शुभ समर्पण

हिज़् हाइनेस, सर आमदे राजहाय हिंदुस्थान,

राजराजेंद्र, महाराजाधिराज, लेफ्टिनेंट

सवाई श्रीमानसिंहजी

साहब बहादुर

(जयपुर-नरेश)

के

कर-कमलों में

उन्हीं के आदर्श पूर्वज

महाराजा नल और महारानी दमयंती

का यह चारु चरित्र,

'नल नरेश'-नामक महाकाव्य के रूप में,

श्रद्धा-भक्ति-सहित, सादर और सप्रेम

आज्ञानुसार समर्पित है ।

1957

परिचय

प्रतिभाशाली व्यक्तियों में कुछ ऐसे चिह्न अवश्य रहते हैं, जो उनके भविष्य के द्योतक होते हैं।

श्रीपुरोहित प्रतापनारायणजी कविरत्न अपने सुयोग्य पिता श्री स्व० पुरोहित रामप्रतापजी के सुयोग्य पुत्र हैं। पिता के गुणों का ग्रहण करना पुत्र के लिये बड़े गौरव की बात होती है, फिर स्व० रामप्रतापजी में तो इतने अधिक गुण थे कि उन सबका ग्रहण करना बहुत ही कठिन, लेकिन गौरव-पूर्ण है। पु० श्रीरामप्रतापजी बाल्य-काल ही से अपने बड़े भाग्य एवं बुद्धि का परिचय देने लग गए थे। आपको आरंभ से ही विद्या और सुंदर कलाओं का शौक़ था। इसके प्रमाण में आपकी लिखी पुस्तकें दो-एक उपन्यासों के अतिरिक्त गीता का सर्व-श्रेष्ठ हिंदी-पद्यानुवाद, श्रीकृष्ण-विज्ञान और राजपूताना-फ़ोटो-आर्ट स्टुडिओ, जयपुर हैं। चित्रकारी, फ़ोटोग्राफ़ी, सिनेमेटोग्राफ़ी और संगीत-कला में उनकी असाधारण पारदर्शिता देखकर लोग दंग रह जाते थे। इन गुणों से युक्त पिता की मर्यादा का पालन करना एक साधारण बात नहीं है। लेकिन कहना नहीं होगा, प्रतापनारायणजी ने अपने पिता की गौरव-सीमा की वृद्धि की है, और वह भी अपने व्यक्तिगत गुणों से। यही बात स्वर्गीय पुरोहित रामप्रतापजी के संबंध में भी कही जा सकती है। अपने

पारीक-कुल को इन्होंने कितना प्रतिष्ठित बना दिया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

यह जयपुर के मुख्यामात्य (मुसाहिब) स्व० पु० रामप्रसादजी के सुपुत्र जगन्नाथबख़्शजी के दत्तक पुत्र थे। इनके पिता पुरोहित हरिनारायणजी बी० ए० हिंदी-साहित्य-सेवियों के श्रद्धा-स्थल हैं। आपने हिंदी-साहित्य की तन, मन, धन से जो सेवाएं की हैं, वे स्मरणीय रहेंगी। इस प्रकार साहित्य को पु० रामप्रतापजी ने अपने पिताजी से प्राप्त किया, और प्रबंध-पटुता तथा कला श्रीजगन्नाथबख़्शजी से ली, जिनके यह दत्तक पुत्र थे।

इन सभी गुणों को लेकर हमारे चरित्रनायक क्षेत्र में उतरे। ताज़ीमी सरदार के रूप में आपने अपनी शासन-प्रबंध-पटुता दिखाई, और महाकवि के रूप में साहित्य और कला का ज्ञान। इन गुणों का बीजारोपण आपके आरंभ-जीवन में ही हो चुका था। भावुकता और तल्लीनता आपके बाल्य-काल की ही संचित निधियाँ थीं, और सज्जनता की शिक्षा मिली आपको अपने वातावरण से। पुरोहित प्रतापनारायणजी एक भावुक कवि के रूप में बहुत दिनों से हिंदी-साहित्य की सेवा करते आए हैं। आपकी रचनाएँ बहुधा 'सुधा' में प्रकाशित होती रहती हैं, लेकिन इस क्षेत्र में आपकी सबसे महत्त्व-पूर्ण रचना है, महाकाव्य के रूप में, 'नल नरेश' जो आपके सामने है। हिंदी में यह महाकाव्य एक नई चीज़ है। इसकी पांडु-लिपि को देखकर हिंदी-साहित्य के कई एक प्रमुख विद्वानों ने कविरत्न श्रीप्रतापनारायणजी के रचना-चातुर्य

की प्रशंसा की है। वास्तव में यह ग्रंथ अपने ढंग का अनूठा है। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण मौजूद हैं। इसकी शैली तो बहुत ही आकर्षक है। माधुर्य और प्रसाद, ये दोनो गुण मानो कविरत्नजी के अपने हैं। 'नल नरेश' के अतिरिक्त आपकी एक दूसरी पुस्तक 'काव्य-कानन' भी, जिसमें क़रीब-क़रीब २००९ छंद हैं, हिंदी-प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो गई।

यह तीन भाई हैं, और सबमें ज्येष्ठ आप हैं। श्रीउदयनारायणजी इनके दूसरे भाई हैं, जो संगीत-विद्या में पारंगत हैं, और मदनकुमारजी तीसरे हैं। यह चित्र-कला में कमाल करते हैं।

आजकल कविरत्नजी जयपुर में अपने पिताजी के पद पर ताज़ीमी सरदार हैं, और सुयोग्यता के साथ इस कार्य का संपादन करते हैं। हम आपसे हिंदी-साहित्य-सेवा की बहुत अधिक आशा रखते हैं।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अंतर्दर्शन

मैं समझता हूँ, वर्तमान समय हिंदी-भाषा के अभ्युदय का एक उल्लेख-योग्य काल है। इस समय उसकी देश-व्यापिनी समुन्नति ही नहीं हो रही है, उसकी सर्वांग-पुष्टि के लिये बड़े-बड़े विद्वान् भी बद्ध-परिकर हैं। वे लोग हृदय से इस बात का उद्योग कर रहे हैं कि यदि हिंदी-भाषा को राष्ट्रीय भाषा के सिंहासन पर आसीन करना है, तो उसे इस योग्य बनाना होगा, जिससे वह प्राप्त पद की समुचित शोभा के संपादन में समर्थ हो सके। उसके हरएक विभाग में उन्नति के आनंद-जनक चिह्न दृष्टिगत हो रहे हैं। प्रत्येक विभाग में युवक-दल जिस उत्साह और संलग्नता के साथ कार्य कर रहा है, वह अभिनंदनीय ही नहीं, आदरणीय और प्रशंसनीय भी है। समुन्नत भाषा के प्रधान अंगों में साहित्य का विशेष स्थान है। किसी देश, जाति अथवा समाज के उत्कर्ष का ज्ञान उसके साहित्य द्वारा ही होता है, क्योंकि उसका आदर्श उसी में अंकित मिलता है। साहित्य जातीय सभ्यता का जनक है, और सभ्यता ही वह साधन है, जिसके द्वारा सभ्य-समाज देश में ही नहीं, संसार में अपनी कीर्ति-पताका उड़ा सकता है। हर्ष है कि इस बात का यथार्थ ज्ञान हमारे देश के विबुध-वृंद को हो गया है, और वे अपने कार्य-पथ की ओर उत्साह के साथ अग्रसर हो रहे हैं।

साहित्य के दो विभाग हैं—पहला गद्य और दूसरा पद्य। आजकल हिंदी-भाषा के दोनो विभाग प्रतिदिन समुन्नत हो रहे हैं। मेरा प्रस्तुत विषय पद्य-भाग ही है, अतएव यहाँ मै उसी की चर्चा करूँगा। गद्य से पद्य लिखना सुगम है या अगम, यह विषय वाद-ग्रस्त है। यदि यह कहा जाता है कि "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति", तो यह कहने में भी मुक्तकंठता से काम लिया गया है कि 'गद्य से पद्य विशेष प्रभाव-जनक और हृदयग्राही होता है।' यही कारण है कि गद्य लिखनेवालों से पद्य लिखने-वालों का प्रभाव सर्वसाधारण अथवा देश या जाति पर अधिक देखा जाता है। जो गौरव संस्कृत-साहित्य में रामायणकार और महाभारत के रचयिता अथवा कवि-पुंगव कालिदास को प्राप्त है, वह गौरव अब तक किसी गद्य-साहित्यकार को नहीं प्राप्त हुआ। कादंबरी के रचयिता बाण को भी नहीं, यद्यपि उनके विषय में कहा गया है कि "बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।"

हिंदी-भाषा का पद्य-विभाग चिरकाल से समुन्नत है, आज भी उसकी प्रगति में अंतर नहीं पड़ा। इस समय भी हिंदी-भाषा के पद्य-विभाग में प्रतिष्ठित कवि-पुंगव कार्य कर रहे और उसे उन्नत बना रहे हैं, यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है। जहाँ छोटे-मोटे कविता-ग्रंथ रचे जा रहे हैं, वहीं महाकाव्य रचने की ओर भी भावुक कवि-वृंद का उत्साह पाया जाता है, यह अल्पानंद की बात नहीं।

महाकाव्य क्या है? और उसके नियम क्या हैं? इस पर मैं

इस छोटे-से वक्तव्य में विशेष कुछ लिखना नहीं चाहता, किंतु यह अवश्य कहूँगा कि महाकाव्य लिखना सुगम नहीं। साहित्य-दर्पणकार की सम्मति इस विषय में यह है—

"जिसमें सर्गों का निबंधन हो, वह महाकाव्य कहाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शांत में से कोई एक रस अंगी होता है, अन्य रस गौण होते है। सब नाटक संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन-संबंधिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरंभ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निंदा और सज्जनों का गुण-वर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक ही छंद होता है, किंतु अंतिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छंद का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छंद भी मिलते हैं। सर्ग के अंत में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें संध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से (जैसे माघ) या चरित्र के नाम से (जैसे कुमारसंभव) अथवा चरित्र-नायक

के नाम से (जैसे रघुवंश) होना चाहिए। कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है, जैसे भट्टि।"

(साहित्यदर्पण की विमला टीका पृष्ठ ३०८, ३०९)

साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के जो लक्षण बतलाए हैं, वे विशद और विशेष नियमों के साथ आबद्ध हैं। महाकाव्य लिखने में उन सब नियमों का सर्वांश में यथातथ्य पालन असंभव है। कुछ बातें ऐसी हैं, जो उसके नियमों के अंतर्गत नहीं हैं, परंतु महाकाव्यकारों को उनका वर्णन करते देखा जाता है, जैसे देश-प्रेम एवं जाति-प्रेम-संबंधी प्रकरण आदि। मेरा विचार है कि नियमों का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने एक आदर्श उपस्थित करने के लिये ही किया है, वे उपलक्षण-मात्र हैं, उनमें न्यूनाधिक भी हो सकता है। संस्कृत के महाकाव्यकारों ने उनका प्रतिपालन यथाशक्ति किया है, परंतु आवश्यकतानुसार स्वतंत्रता भी ग्रहण की है। आजकल हिंदी-संसार में नियमबद्धता की उपेक्षा की ओर अधिकतर प्रवृत्ति देखी जाती है। यह वांछनीय नहीं। देश-कालानुसार नियम कुछ शिथिल बनाए जा सकते हैं, और उनमें उचित परिवर्तन भी किया जा सकता है, परंतु सर्वथा उनकी उपेक्षा संगत नहीं, क्योंकि उच्छृंखलता उन्मार्गगामिनी होती है। इन सब बातों पर दृष्टि रखकर जब मैं अनुधावन करता हूँ, तो मुझको यह कहना पड़ता है कि महाकाव्य की उचित परिभाषा यह है कि जिसमें वास्तव में महाकवित्व पाया जाय, और जिसका ऐसा कोई महदुद्देश्य हो, जो

देश, जाति और समाज के भावों का दर्पण हो, जिसमें ऐसे विचारों और महान् कल्पनाओं का चित्रण हो, जो किसी लोक-समूह के लिये कल्पद्रुम का काम दे सकें। हाँ, उसके सर्ग अथवा अध्यायों की संख्या आठ या दस से अधिक अवश्य हो, जिसमें वर्णित विषयों का उचित परिपाक ग्रंथ में हो सके। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि कोई पचीस-तीस सर्ग का ग्रंथ ही क्यों न लिखे, यदि उसमें कवि-कर्म नहीं, महाकवित्व नहीं, तो इतना बड़ा ग्रंथ होने पर भी वह महाकाव्य कहलाने योग्य न होगा। और, थोड़े ही सर्गों का ग्रंथ क्यों न हो, यदि उसमें व्यंजना की प्रधानता है, भावुकता उसमें छलकती मिलती है, महाकवि का कर्म देखा जाता है, तो वह अवश्य महाकाव्य कहा जा सकेगा, क्योंकि ग्रंथ का महत्त्व ही उसकी महत्ता का कारण हो सकता है। मेरी इन बातों का यह भाव कदापि नहीं कि मैं साहित्यदर्पण-कार के नियमों की अवहेलना करना चाहता हूँ, वरन् मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि उनके नियमो का सर्वथा पालन करते हुए भी यथावसर समुचित स्वतंत्रता ग्रहण की जा सकती है।

हिंदी-भाषा में महाकाव्यों की न्यूनता नहीं है। उसमें पृथ्वीराज-रासो, रामचरित-मानस, पद्मावत, रामचंद्रिका आदि अनेक सुंदर और समादरणीय महाकाव्य लिखे गए हैं, जिनके द्वारा उसको बहुत बड़ा गौरव प्राप्त है। इनमें सर्वांश में साहित्यदर्पण-कार के नियमों का पालन नहीं हुआ है। बहुत कुछ आवश्यकता-नुसार परिवर्तन भी दृष्टिगत होता है, परंतु इस कारण उनके

महत्त्व में कुछ अंतर नहीं पड़ा, उनका समुचित स्वतंत्रता-ग्रहण उनके शोभा-वर्धन और महत्ता का ही कारण हुई है। हिंदी-भाषा में और भी महाकाव्य लिखे गए हैं, परंतु उन सबकी चर्चा करना आवश्यक नहीं। उस युग का अंतिम महाकाव्य स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्रजी का लिखा हुआ 'जरासंध-वध' है। यह भी एक सुंदर महाकाव्य है, जो ब्रजभाषा में लिखा गया है। कई दृष्टि से इसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है।

आजकल खड़ी बोली का बोलबाला है, और उसकी विजय-दुंदुभी का निनाद ही सर्वत्र श्रवणगत होता है। इस भाषा में अब तक अनेक पद्य-ग्रंथ निकल चुके, और निकलते जाते हैं। जिसका पृष्ठ-पोषक वर्तमान काल का अधिकांश नवयुवक-दल है, उसका उन्नति-शिखर पर आरूढ़ होना आश्चर्य-जनक नहीं। इस भाषा के उत्थान का समय अर्ध-शताब्दी से अधिक नहीं है। फिर भी, इतने ही समय में, इसने अपना विलक्षण प्रभाव प्रकट किया है। आजकल हिंदी-संसार में उसी के अंगभूत छायावाद अथवा रहस्यवाद का रचनाओं का स्रोत बह रहा है। जिधर देखिए, इस प्रकार की रचनाओं का समादर और गुण-गान ही विस्तार पाता दृष्टिगत होता है। ऐसी दशा में यदि कहें कि इस समय सर्वेसर्वा वही है, तो अनुचित न होगा। जहाँ खड़ी बोली का उन्नयन विविध रूप और प्रकार से हो रहा है, वहीं उत्साही नवयुवकों का ध्यान खड़ी बोलचाल में महाकाव्य-रचना करने की

ओर भी अधिक आकृष्ट है । खड़ी बोली के दो-तीन अच्छे महा-काव्य दस-पंद्रह वर्ष के भीतर निकल चुके हैं । हाल ही में लब्धप्रतिष्ठ कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत'-नामक एक सुंदर महाकाव्य भी निकला है। महाकाव्य के रूप में पाँच-सात ग्रंथ और मैंने देखे हैं, जो निर्मित हो चुके हैं, परंतु उनका मुद्रण अभी नहीं हुआ । मुझको हर्ष है कि लखनऊ के गंगा-पुस्तकमाला से एक 'नल नरेश'-नामक महाकाव्य इसी सप्ताह में निकल रहा है। मैं नहीं कह सकता कि हिंदी-संसार की इसके विषय में क्या सम्मति होगी, परंतु मैं इसमें महाकाव्य के अनेक लक्षण पाता हूँ ।

मैंने यह देखा है कि हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् दस से अधिक सर्गों में लिखे गए ग्रंथ को भी महाकाव्य कहने और लिखने में संकोच करते हैं । वे उसको बड़ा काव्य लिख देंगे, परंतु महाकाव्य न कहेंगे । दो विद्वानों को मैंने 'साकेत' के विषय में भी द्वंद्व युद्ध करते देखा । एक उसे महाकाव्य कहता था, और दूसरा उसका विरोध करता था। कारण इसका यह है कि एक उसको साहित्यदर्पणकार के नियमों की कसौटी पर कसता था, और उस ग्रंथ के कतिपय दोषों को दिखलाकर उसे महाकाव्य नहीं कहना चाहता था। दूसरा इन बातों की परवा नहीं करता था। वह गुण-ग्राही था, और उस ग्रंथ के गुणों पर और उसकी विशदता पर ही दृष्टि रखकर उसे महाकाव्य स्वीकार करता था । मतभिन्नता

स्वाभाविक है। प्रत्येक विद्वान् का विचार स्वतंत्र होता है, और अपने इस स्वतंत्र विचार को प्रकट करने का उसे अधिकार भी रहता है। 'नल नरेश' के विषय में जो विचार मैं प्रकट करना चाहता हूँ, वह भी ऐसा ही है। संभव है, वह आपत्ति-मूलक हो, परंतु मैं उसके प्रकट करने में संकोच नहीं करना चाहता, क्योंकि उसका न प्रकट करना न्याय-संगत न होगा।

मुझको 'नल नरेश' को देखकर विशेष हर्ष इस कारण हुआ कि उसकी रचना एक नवयुवक द्वारा हुई है। यह भी कम संतोष की बात नहीं कि उसका रचयिता उस प्रतिष्ठित कुल का है, जो जयपुर-राजवंश द्वारा सम्मानित है। यौवन-काल आमोद-प्रमोद और नाना दुर्व्यसनों का आधार होता है। उसके वशवर्ती न होकर एक नवयुवक का विद्या-व्यसनी होना और तन्मयता के साथ थोड़ी अवस्था में 'नल नरेश'-जैसा महाकाव्य लिख देना अल्प अभिनंदनीय नहीं है। इस सूत्र से मैं इस ग्रंथ के लिखने के लिये ग्रंथकार का प्रफुल्ल हृदय से अभिनंदन करता हूँ, और चाहता हूँ कि उनका यह विद्या-व्यसन चिर जाग्रत् रहे, और वह संलग्नता के साथ हिंदी-देवी की सेवा करने में रत रहें। मुझको इस ग्रंथ को देखकर इस कारण और अधिक आनंद हुआ कि जिस समय परोक्षवाद का राग अलापा जा रहा है, और पृथ्वी पर रहकर आकाश की बातें की जा रही हैं, आँख-देखी बातों को धता बताकर अनिर्वचनीयता का

गान सुनाया जा रहा है, भाषा को जटिल-से-जटिल बनाया जा रहा है, उस समय एक होनहार नवयुवक सामने आता है, और काम में आनेवाली घर की वे बातें—चलती और परिमार्जित भाषा में—सुना जाता है, जिनका संसार और मानव-जीवन से गहरा संबंध है।

महाकाव्य के विषय में मैं अपनी सम्मति ऊपर प्रकट कर आया हूँ। मैंने कई एक संस्कृत के विद्वानों को मेघदूत को महाकाव्य मानते देखा है। हिंदी-संसार के कुछ विद्वानों को मैंने बिहारीसतसई को भी महाकाव्य कहते सुना है। स्वर्गीय पं० बदरीनारायण चौधुरी, पं० अंबिकादत्त व्यास और स्वयं बाबू हरिश्चंद्र को भी मैंने बिहारीसतसई को महाकाव्य कहते पाया है। वे लोग बातचीत होने पर यह कहते थे कि यदि बिहारीलाल महाकवि हैं, और उनके ग्रंथ में महाकवित्व है, तो वह महाकाव्य क्यों नहीं है। यह व्यापक दृष्टि नियम-बद्धता के प्रेमिकों को पसंद न आवे, परंतु उसमें मार्मिकता अवश्य है, जो ग्रहणीय ही नहीं, आदरणीय भी है। इसी दृष्टि से मैं ऊपर अपना कुछ इस प्रकार का विचार प्रकट भी कर चुका हूँ। 'नल नरेश' को भी मैं उसी दृष्टि से देखता हूँ। ग्रंथ-कार ने इस ग्रंथ को १९ सर्गों में लिखा है, और साहित्य-दर्पणकार के अधिकांश नियमों को अपने ग्रंथ में सादर ग्रहण करने की भी चेष्टा की है। इन बातों पर विचार करने से उनके ग्रंथ को महाकाव्य कहा जाता है। मैं इसे इस योग्य

अवश्य समझता हूँ कि यह उस गौरव का अधिकारी माना जाय, जो इसकी गणना उत्तम ग्रंथों में करा सके।

'नल नरेश' की भाषा प्रांजल और प्रायः शुद्ध है। उसमें जिस विषय का जहाँ वर्णन है, वहाँ कवि-कर्म दृष्टिगत होता है। ग्रंथकार ने जहाँ-तहाँ इस बात का परिचय फ़ुट नोट द्वारा दिया है, परंतु मै उसको आवश्यक नहा समझता, ग्रंथ की वर्णन-शैली ही इस बात को स्वयं प्रकट करती रहती है। ग्रंथकार ने अपने ग्रथ की रचना में संस्कृत के ग्रंथों से भी सहायता ली है, विशेषकर महाभारत से। इससे उसको इसको रचना में सुविधा अवश्य हुई है, परंतु उसका निजत्व भी उसमें मौजूद है। उसने स्थान-स्थान पर इस प्रकार भाव-प्रकाशन किया है, जिसमें उसकी स्वकीय प्रतिभा का विकास देखा जाता है। ग्रंथ को अश्लीलता से बचाया गया है, और उसको सामयिक बनाने की भी चेष्टा की गई है। ग्रंथकार ब्राह्मण और सनातन धर्म का प्रेमिक है, इसलिये ग्रंथ में सनातन धर्म के कई एक उत्तम आदर्श मौजूद है। यह मैं स्वीकार करूँगा कि जितनी शब्द-विन्यास की ओर उसकी दृष्टि रही है, उतनी व्यंजना की ओर नहा, फिर भी स्थान-स्थान पर सुंदर व्यंजनाएँ दृष्टिगत हो जाती हैं। पक्क अवस्था होने पर जो मार्मिकता पद्यों में आती है, वैसी मार्मिकता ग्रंथ में प्रायः पाई जाती है, और मैं यह भी कहूँगा कि ग्रंथकार का हृदय भाव-प्रवण है, एवं उसके हृदय की यह भावुकता ग्रंथ में यत्र-तत्र स्पष्ट रूप से प्रतिफलित

हुई है। राजदरबार में रहने के कारण उसको राजसी ठाट-बाट का अच्छा ज्ञान है। अतएव स्थल-स्थल पर इस विषय का भी सुंदर विकास देखा जाता है। मैं पद्यों को उद्धृत करके अपने कथन की पुष्टि कर सकता था, परंतु स्थान की न्यूनता और अस्वस्थता इस कार्य की बाधक हुई।

ग्रंथ के दोषों का प्रदर्शन मुझे इष्ट नहीं। कारण, वे ही दोष ग्रंथ में पाए जाते हैं, जिनका प्रचार आजकल खड़ी बोली की रचनाओं में अधिकतर स्वतंत्रता-पूर्वक हो रहा है। आजकल मुहावरों का गढ़ लेना, मनमाना शब्द-विन्यास करना, इच्छानुसार विभक्तियों का लोप कर देना, अस्पष्ट भाव और भाषा का प्रयोग करना बाएँ हाथ का खेल है। इस प्रकार का व्यवहार नियमबद्धता की कठोरता से स्वतंत्रता ग्रहण का सर्वोत्तम उपाय समझा जाने लगा है। मनमाना पुंलिंग शब्दों को स्त्रीलिंग लिखना, व्याकरण-दुष्ट शब्दों का निस्संकोच प्रयोग करना, भाषा के प्रवाह और बोलचाल के नियमों पर दृष्टि न रखना, इन दिनों परंपरा की शृंखलाओं के तोड़ने का सदुपाय माना जाता है। या इस बहाने अपने दोषों पर परदा डाला जाता है। खेद है, आजकल कुछ सुयोग्य आलोचक भी इस विषय में मौन ग्रहण करना ही उत्तम समझते हैं। अब कुछ लोग व्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी अनवसर करते देखे जाते हैं, फिर भी उनको सावधान करनेवाले सावधान नहीं करते। जब हिंदी-साहित्य-क्षेत्र की यह अवस्था है, तब ग्रंथकार को

ही इन बातों का दोषी क्यों समझा जाय? अतएव इस विषय में मौन ग्रहण करना ही मैंने उचित समझा। परंतु इस अवसर पर मैं यह प्रकट कर देना भी न्याय-संगत समझता हूँ कि इस प्रकार के बहुत-से दोषों से यह ग्रंथ मुक्त है। आशा है कि दूसरे संस्करण में ग्रंथकार विशेष सावधान हो जायँगे, और उन कुछ दोषों के दूर करने की चेष्टा करेंगे, जो उनके उत्तम ग्रंथ के लिये शोभा-जनक नहीं।

मुझको विश्वास है कि हिंदी-संसार इस ग्रंथ का उचित आदर करेगा, और महाकवि को वह उत्साह प्रदान करने में संकुचित न होगा, जो यथाकाल उसके द्वारा अन्य महाकाव्यों के निर्माण का एक अभिनंदनीय हेतु बन सके।

आज़मगढ़
३ जून सन् १९३३ ई०

अयोध्यासिंह उपाध्याय
'हरिऔध'

विषय-सूची

पृष्ठ

ग्यारहवाँ सर्ग

(छंद-संख्या ६३)

बारहवाँ सर्ग

(छंद-संख्या १०४)

पृष्ठ

तेरहवाँ सर्ग

(छंद-संख्या ६७)

६. उसकी परमयोगी की-सी ज्ञान-वार्ता सुनकर इंद्र, अग्नि, यम और वरुण, इन चारो देवताओं का प्रकट होना

७. देवताओं की और नल की बातचीत

८. नल का उनसे वरदान माँगना

९. नल-दमयंती को सदेह ही विमान में बैठाकर और भारतवर्ष की उन्नति के लिये 'तथाऽस्तु' कहकर देवताओं का स्वर्ग में चला जाना

मंगलाचरण

माया की भी महाशक्ति में व्यापक है जिसकी सत्ता ;
बतलाता है जिसका पूरा पता सदा पत्ता - पत्ता ।
गंध रसा* में, रस जो जल में, रूप तेज में कहलाता ;
स्पर्शन में है स्पर्श और जो शब्द गगन में बन जाता ।
ऐसा श्यामल-मणि-आभा-सम दिव्य-अलौकिक-द्युतिधारी ;
भव-भयहारी, मंगलकारी और विघ्न - कुल - संहारी—
कोई नील† वनज-वन मेरे सभी मनोरथ पूर्ण करे ;
मेरी मति को प्रखर बनाकर उसमें भव-हित-भाव भरे ।

---

* पृथ्वी । † मुख-कमल, नेत्र-कमलादिक कई नील कमलों से संयुक्त अर्थात् नीले कमलों के वन के समान भगवान् श्रीरामचंद्र और श्रीकृष्णचंद्र मुझे सफल-मनोरथ करें ।

पहला सर्ग

(१)

जटिल* जटा-युत तरु-वर-कानन है शुचि जटाजूट का जाल ;
मानस-मोहन-भव्य-भाल में मानस है उपनयन विशाल।
सर्प नाग, हिम अर्ध-चंद्रमा, रज है जिसके भूति ललाम ;
ऐसे भारत-गंगाधर को करता हूँ मैं प्रथम प्रणाम।

(२)

ब्रह्मलोक - शिवलोक - सुरक्षित विष्णुधाम है भारतवर्ष ;
देवनदी-युत देवलोक है, भूदेवों को देता हर्ष।
है अकलंक-मयंकलोक यह, बन वसुधातल सुधा-निधान ;
इंद्रलोक है, ऐरावत - सम कुंजर का हो वासस्थान।

(३)

है सुंदर-गंधर्वलोक यह जहाँ वेद - विधि - गान - विधान ;
रवि-प्रतिबिंबित विपुल-जलाशय-मिष है मिहिरलोक द्युतिमान।
मुनि - मन - मोहिनि - कन्याओं का कहलाया जो जन्मस्थान ;
ऐसा नागालय होकर यह नागलोक का है उपमान।

(४)

सब देशों का तिलक, पुरोपति और कला-कौशल का गेह—
प्रथम यही है, धारण करके पुण्य-भूमि की अक्षय देह।
सकल लोक का गौरव है यह, आदि सृष्टि का है आधार ;
है वैकुंठ - सदृश यह भारत, बन भगवान - भूति - भांडार।

---

* समस्त-वस्तु-विषय-सम-अभेद-सावयव रूपक ।

(५)

महिमामयी महामाया का है यह क्रीड़ा - गृह कमनीय;
लीलामय भी इसे मानते निज - लीला - शाला महनीय।
रुचिर-उर्वरा-भूमि-भवन बन और महा - धन - धान्य - निधान—
यह वि-मान करता देशों को होकर विष्णु-विचित्र * विमान।

(६)

है यह भव - विज्ञान - विधायक, धर्मशास्त्र - उद्भव - आगार;
है आधार वेद - विभुता का, मुक्ति †-शुक्ति का पारावार।
हार त्रिलोकी - ललना का यह, निराकार - अवताराधार;
पार यही भव से करता है, हरता है अघ-ओघ-विकार।

(७)

अकथनीय होने पर भी यह वर्णनीय रहता सर्वत्र;
अद्वितीय यह, किंतु बहुत - से हैं प्रदेश इसमें एकत्र।
अप्रमाण होकर यह करता सप्रमाण रहकर सब कर्म;
धर्म - धुरंधर होकर भी यह तरह - तरह के रखता धर्म।

(८)

शासक है यह परंपरा से फिर भी करता पर - आदेश;
शासित है यद्यपि विदेश से, पर तो भी है यह देशेश।
है अनजान जान पड़ता, पर रखता है यह ज्ञान विशेष;
गुरु होकर भी धारण करता दीन-शिष्य का-सा यह वेष।

(९)

पीड़ित होकर भी यह अरि पर दिखलाता है करुणाभाव;
है अद्भुत यह बात, शत्रु से करते रहना यों बरताव।

---

* स्थिर होने से अद्भुत। † निर्वाण-मुक्ता की जन्मदायिनी सीपी का समुद्र।

होकर राम * - चरित्र - युक्त भी रत रहता यह कृष्ण † - चरित्र ;
दोनो ही शोभा दें इसको, कैसा है यह योग विचित्र !

(१०)

कई बार पर-घर होकर भी कहलाता यह हिंदुस्थान ;
रहता 'आर्यावर्त', 'बुद्ध', 'जिन', 'ईशु', 'मुहम्मद' को भी मान।
होकर अवनति - पतित आज भी रखता है यह निज उत्कर्ष ;
और देश ऐसा न कहीं है, जैसा है यह भारतवर्ष।

(११)

पूर्णतया स्वीकृत करते हैं दूर - दूर के भी विद्वान—
भारत में ही प्रथम किया है ब्रह्मा ने निज सृष्टि - विधान।
है यह सबसे श्रेष्ठ, पुरातन, पावन और सभ्यता - युक्त ;
सबसे पहले इसी देश के मर्त्य हुए हैं जीवन - मुक्त।

(१२)

और देश के मनुजों को जब नहीं हुआ था कुछ भी ज्ञान ;
तब योगीजन यहाँ ब्रह्म का करते थे सुखदायक ध्यान।
औरों को जब ज्ञात नहीं था, विद्या का है क्या उपयोग ;
यहाँ नीति के कठिन प्रश्न तब हल करते थे पंडित लोग।

(१३)

और जगह जब जन करते थे नर - भक्षण का कुत्सित कर्म ;
यहाँ अहिंसा को तब बालक बतलाते थे मानव - धर्म।
और लोग थे नहीं जानते कुटी बनाना भी जिस काल ;
शिल्प - कलामय थे तब इसके नभ - चुंबी प्रासाद विशाल।

(१४)

बने हुए थे जगतीतल के और देश जब जंगल - धाम ;
करते थे आराम - गृहों में यहाँ धनीजन तब आराम।

---

* सुंदर और श्रीराम-संबंधी। † असुंदर और श्रीकृष्ण-विषयक।

और जगह जब माने जाते थे आयुध केवल पाषाण ;
तब यह करना जान गया था अस्त्र - शस्त्र से अपना त्राण ।

(१५)

और देश अज्ञान - गगन में तारे गिनते थे जिस काल ;
यहाँ गणक - गण तब गिन - गिनकर कहते थे तारों का हाल ।
और लोग जब मर जाते थे भोग - भोगकर भीषण रोग ;
जीवन - दान यहाँ करते तब औषधियों के विविध प्रयोग ।

(१६)

और जगह जब नहीं हुआ था वल्कल - विरचित - वस्त्र - विचार ;
यहाँ अप्सराएँ करती थीं तब सुंदर सोलह शृंगार ।
औरों को जब ज्ञात नहीं था, होता क्या आतिथ्य पदार्थ ;
यहाँ दीन भी करते थे तब भिक्षुक - पोषण - सा परमार्थ ।

(१७)

आदि - देश - शिक्षक कहलाता यह भारत ही केवल एक ;
इससे शिक्षा पाकर अब तो उपदेशक हो गए अनेक ।
जैसे द्विज को अपना गुरु - वर मान रहा है शिष्ट - समाज ;
वैसे ही सब देश हृदय में इसे समझते हैं गुरुराज ।

(१८)

हो जावें वे शिष्य भले ही आज कुशिष्य, महा - गुण - चौर—
सीख इसी से विद्या, उसको अजमावें इस पर ही, और,
किंतु सदा रक्खेगा यह तो उन सब पर पूरा गुरु - भाव,
क्योंकि कुपुत्रों * से भी करता पिता सदा अच्छा बरताव ।

(१९)

जो यह सबसे श्रेष्ठ न होता पावन और शांति का गेह,
तो क्यों होते प्रकट यहाँ पर नारायण धारण कर देह ?

* पुत्र और पिता, शिष्य और गुरु के भी पर्यायवाची हैं ।

सबसे प्रथम विधाता भी क्यों रचता रुचिर इसी में सृष्टि ?
और इसी पर शिव भी करते क्यों सुदृष्टि की संतत वृष्टि ?

(२०)

श्रेष्ठ - सनातन - धर्म - धुरंधर होकर भारत महिमावान—
पय - रत्नाकर भी कहलाता बन लक्ष्मी का जन्मस्थान।
पावनता - उत्पत्ति - निकेतन, नर - नारी - रत्नों की खान ;
है गुण - गौरव - गरिमा का यह सिद्ध - पीठ - विज्ञान - निधान।

(२१)

चंदन-हरिचंदन*-युत इसको स्वर्ग मान, तजकर देवत्व—
प्रथम इसी पर प्राप्त किया है कई सुरों ने प्रिय - मनुजत्व।
और अनेक देवियों ने भी छाड़-छोड़ अपना परिवार—
यहाँ किया है वास जानकर इसे अधिक - पावनतागार।

(२२)

नारायण-वक्षस्थल का भी मानो कर अपमान महान—
निधिपति-कर-लालित अलका को ललामता में कम अनुमान—
सुंदर छवि का दर्शन करने, हरने को अपना संताप—
हरिप्रिया इस पुण्य - भूमि पर कभी फिरी थीं वन-वन आप।

(२३)

योगीजन - मन - रमण - रमापति - अशरण - शरण चरण सुपवित्र,
ब्रह्म-कमंडलु, महादेव की जटाटवी, नृप†-गात्र, विचित्र—
तज ऐसे पावन - धामों को, कर इस पर इच्छित दृक्-पात—
विसर्जिता होकर भी बसती भागीरथी यहाँ दिन-रात।

(२४)

सविता पिता और निज भ्राता धर्मराज का भी कर त्याग,
भुवन - भव्यतम - भानुलोक को भीषण जान, छोड़ अनुराग—

---

*कल्पवृक्ष। † जह्नु राजा, जिसने गंगा को अपनी जघा में धारण किया था।

भारत - पावनता - विमोहिता यमुना ने निज वासस्थान—
इसी भूमि को नियत किया है सबसे श्रेष्ठ और शुचि मान।

(२५)

छोड़-छाड़कर ब्रह्मलोक को, त्याग सुखद सुर-धाम ललाम—
ब्रह्मा, ब्रह्माणी, नारद को करके सादर नम्र प्रणाम—
भारत-वसुधा-शुचिता-मुग्धा-सरस्वती भी यहाँ विराज—
गंगा-यमुना से मिल भूली तन-सुधि अंतर्हित के व्याज।

(२६)

महामहिमतम विष्णुलोक को तज, जो था शोभा-भांडार—
वन - विहार - हित और देखने दिव्य - अयोध्या का शृंगार—
रवि-कुल-कमल-दिवाकर होकर किया विष्णु ने यहीं निवास;
रावण-वध-मिष-मात्र, क्योंकि था वह उनका भ्रू-भंग-विलास।

(२७)

जिनके श्यामल पद-कमलों पर भूपति-मुकुट-पीत-मणि-कांति—
पड़कर पैदा कर देती थी उनमें हरिद्राभा की भ्रांति।
और सदा जो शिव-मानस में बन मराल रहते स्वच्छंद,
भूषित करके भक्त-हृदय को भरते हैं उसमें आनंद।

(२८)

वे मर्यादा-प्रिय, पुरुषोत्तम, भीषण-भय-हारी रघुनाथ—
जिनके चरणों पर होते थे प्रणमित गुरु-गौरव के साथ।
वे प्रातःस्मरणीय, नीतिविद्, श्रेष्ठ, वशिष्ठ महर्षि, द्विजेश—
इसी भूमि पर जन्म प्राप्त कर लाभ कर सके सिद्धि अशेष।

(२९)

जो यह महापवित्र न होता, तो क्यों विश्वामित्र-समान—
यहाँ वीर राजर्षि जन्मते होने को ब्रह्मर्षि महान?

रावण - से अभिमानी, शुक-से ज्ञानी, बलि-से दानी भूप—
ध्रुव - प्रह्लाद - समान यहीं पर भक्त हुए हैं बाल - स्वरूप।

(३०)

महाब्रह्मचारी, बलधारी, भव - भय - हारी, ज्ञान - निधान—
राम - नाम - अनुरक्त, भक्त - वर, रक्त - वेष - धारी हनुमान—
और राम - सम पितृ-परायण, परशु - शस्त्र - विद्या - आचार्य,
यहीं हुए वाल्मीकि आदि - कवि, विज्ञानी, साहित्याचार्य।

(३१)

तारण - तरण राम को जिसने पाँव पखार उतारा पार—
हुआ यहाँ ही वह 'गुह', जो था बुद्धि - वीरता - प्रेमागार!
जांबुवान - से भालु भयंकर, महाशक्तिशाली, दीर्घायु—
भारत में ही जन्मे आकर गीधराज - संपाति - जटायु।

(३२)

सत् - चित् - घन - आनंद - स्वरूपी, सोलह पूर्ण-कला-संपन्न—
योगीश्वर श्रीकृष्णचंद्र भी हुए यहीं पर थे उत्पन्न।
वृंदावन, बरसाना, गोकुल, मथुरा में वे फिरे सहर्ष;
मनमोहन को भी अति प्रिय था यह मन-मोहन-भारतवर्ष।

(३३)

यही नहीं, वे महामुग्ध थे भारत-शुचिता पर दिन-रात;
इसके रज - कण तन पर मलते मल्लयुद्ध करके पश्चात्।
मोर-मुकुट को धारण करके बनकर अनुपम कांति-निधान—
मुरलीधर ने यहीं सुनाई मधुर - मधुर मुरली की तान।

(३४)

वेदों के संस्कर्ता, सारे संशय - हर्ता वेदव्यास—
बना रहेगा प्रलय-काल तक जिनका विद्या-जनित विकास—

लिखा जिन्होंने अनुपम 'भारत', भव्य भागवत, दिव्य पुराण—
वे जन्मे थे इस भारत में, गुण पर होकर मुग्ध महान।

(३५)

दुर्योधन - से भूप हठीले, अर्जुन - सुत-से * बालक - वीर—
हुए युधिष्ठिर - से सत्य-व्रत और भीष्म - से त्यागी, धीर।
भीम और अर्जुन-से क्षत्रिय यहीं हुए थे शक्ति - निधान;
मय दानव - से शिल्पकार का यही देश है जन्मस्थान।

(३६)

अति पावन-शोभन है भारत, ऐसा निज मन में निर्धार—
बुद्धदेव ने, महावीर ने लिया यहाँ ही था अवतार।
वे इच्छा करते, दे देते बैठे - बैठे ही सब ज्ञान;
पर शिक्षा - दीक्षा के मिष था भारत-दर्शन लक्ष्य प्रधान।

(३७)

आकर जन्में इसी देश में विद्या - प्रेमी, महाउदार—
विक्रम और भोज-से राजा कविता - कलित - कला - आधार।
कालिदास - तुलसीदासादिक - जैसे कवि-सम्राट् महान;
यहीं हुए थे राजनीतिविद् महाचतुर चाणक्य - समान।

(३८)

मंदोदरी†, द्रौपदी, कुंती, ताराऽहल्या, परम पवित्र—
जन्मी थीं ये सब कन्याएँ इसी देश में महा - विचित्र।
सावित्री-सी सुंदर सतियाँ यहीं हुई थीं गुण की खान;
लीलावती - सदृश विदुषी का भारत ही है जन्मस्थान।

(३९)

कहें कहाँ तक, इस भारत में हुआ एक से बढ़कर एक;
पैदा करता चला आ रहा है यह रत्न अमूल्य अनेक।

* अभिमन्यु। † यहाँ पर केवल नाम-गणना है, गुण-गणना गौण है।

जब तक होगा नहीं भयंकर प्रलयकाल से विश्व-विनाश—
तब तक इसमें नर - कुल - दीपक फैलावेंगे परम प्रकाश।

(४०)

होते सदा रहेंगे इसमें धीर, वीर, गंभीर, सुजान,
वित्तवान, अति ज्ञानवान जन, वर-विद्या - बल - बुद्धि - निधान।
यह करता उत्पन्न रहेगा सदा - सर्वदा करके यत्न—
'लोकमान्य,' 'सुकवींद्र,' 'महात्मा,' 'महामना'-से मानव-रत्न।

(४१)

कई देश जो बढ़े-चढ़े हैं बल-विद्या में इससे आज—
इसको है उनका भी गौरव, क्योंकि यही सबका गुरुराज।
यह अतीव हर्षित होता है निज शिष्यों को उन्नत जान;
कला और कौशल में उनको अपने से भी बढ़कर मान।

(४२)

शिष्य-रूप देशों की उन्नति ही है अब भी इसका ध्येय;
रण-विद्या सिखलाकर सारी इसने उनको किया अजेय।
उनकी देख वित्त-लोलुपता धन देता यह उन्हें अदीन;
क्योंकि चाहता नहीं देखना यह शिष्यों का वदन मलीन।

(४३)

भू-जल-वायु-यान-रचनाएँ क्यों न कर सकेंगे वे देश?
जब इसने विधि बतला दी है, सिखला दी है युक्ति अशेष।
है गुरु का कर्तव्य स्पष्ट-विधि बतलाना बन मृदुता-धाम;
कार्य-रूप में लाना उसको होता है शिष्यों का काम।

(४४)

सहकर अत्याचार हज़ारों तलवारों के वार अपार—
मार लाठियों की, डंडों की और गोलियों की बौछार—

चूँ तक करता नहीं कभी यह होकर भी बलवान, प्रवीण ;
क्योंकि अहिंसा-व्रत है इसका, जिससे अरि हो जाते क्षीण ।

(४५)

भस्माच्छन्न वह्नि-सम इसमें छिपी हुई है अतुलित शक्ति ;
अवसर पा करके यह उस पर प्रकट करेगा निज-अनुरक्ति ।
गुरु होकर शिष्यों के ऊपर नहीं उठाऊँगा हथियार—
इसके मन में अहो ! आज भी जमा हुआ है यही विचार ।

(४६)

यह उनको सर्वस्व दे चुका बल-विद्या, अपना घर-बार ;
उनके लालन-पालन का भी इसको रहता सदा विचार ।
अपनी महाहानि सहकर भी यह करता उनका कल्याण ;
इस बिगड़ी हालत में भी तो यह रखता है उनका मान ।

(४७)

तो भी वे गुण-चोर, निकम्मे मूछ विना भी देकर ताव—
बन कृतघ्न करते हैं इससे आज शत्रु का-सा बरताव ।
निस्संदेह बुरा होवेगा उन शिष्यों का ही तत्काल ;
इसका बाल न बाँका होगा. उच्च रहेगा उन्नत भाल ।

(४८)

इस पंकिल भारत-सागर में घुटनों तक अब भी है कीच ;
नीर-विहीन-मीन-सम सारे तड़फ रहे हैं जिसके बीच ।
किंतु पूर्ण आशा है उनको, ईश्वर-दया-दृष्टि की वृष्टि—
सुखी करेगी सबको शीतल-अमल-कमल की करके सृष्टि ।

(४९)

शीघ्र फैल जावेगा इसकी जनता में ममतामय स्नेह ;
हर्ष - वित्त - संयुक्त बनेंगे उजड़े हुए प्रजा के गेह ।

घर-घर में आनंद-शांति का हो जावेगा पूर्ण निवास ;
ज्ञान*-भानु की भानु करेगी फूट, फूट - तम - तोम - विनाश ।

(५०)

एक दूसरे के प्रति मानव प्रकट करेंगे अति - अनुरक्ति ;
शक्ति बढ़ावेंगे मित्रों की रख ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति ।
इन सारी सुंदर बातों का होगा यह अंतिम परिणाम—
भारतवर्ष बनेगा फिर से बल - विद्या - वैभव - धन - धाम ।

(५१)

ब्रह्म-विज्ञ होकर सब ब्राह्मण बनजाएँगे अति स्वच्छंद ;
क्षत्रिय - वीर धर्म - रक्षा करके पाएँगे जय का आनंद ।
वैश्य - जाति व्यापार - वृद्धि से होगी अतिसंपत्ति - निधान ;
शूद्र लोग सेवा - रत होंगे प्रभुओं से पाकर सम्मान ।

(५२)

आदि-काल से जो है सबसे सुंदर, सभ्य, विभूति-निधान ;
जिसके सदृश नहीं त्रिभुवन में देश दूसरा महिमावान ।
वही भव्यतम यह भारत है 'नल नरेश' का जन्मस्थान ;
भीम - सुता दमयंती भी है इस भूतल की ही संतान ।

(५३)

वंदनीय यह पुण्य-भूमि है, महाश्रेष्ठ है क्षत्रिय - वंश ;
जिसमें लेकर जन्म बन गए जो अनुपम नृप-कुल-अवतंस ।
जिनके चरित-कथन में होते कवि-पुंगव भी नहीं समर्थ ;
उनकी गाथाओं के गुंफन का प्रयास मेरा है व्यर्थ ।

---

* ज्ञानरूपी सूर्य की (भानु) किरण (फूट) फूटकर (फूट) वैमनस्य-विद्वेषरूपा अंधकार-समूह को नष्ट करेगी ।

(५४)

कवि-कोविद-रवि-सम्मुख मैं हूँ मंद दीप्तिशाला लघु-दीप ;
क्या प्रकाश फैला सकता हूँ स्थित हो करके सूर्य - समीप ।
दिनपति के पावन पूजन में दीपक भी देता है काम—
उसको भी पूजा जाता है, वह भी है मुद-मंगल-धाम ।

(५५)

विना किए दीपक का पूजन, रवि-पूजा का है न विधान—
ऐसा जान हो गया मेरे मन को यह विश्वास महान—
पूजेंगे इस दीपक को भी रवि-पूजक आदर के साथ ;
क्योंकि वेद-अनुसार पूज्य हैं दीपक और दिव्य - दिननाथ ।

(५६)

जो कोई ऐसा न करेगा, तो होगा न मुझे संताप ;
धर्म-शास्त्र-आज्ञा का खंडन वह कर लेगा अपने आप ।
जो रवि-पूजन-योग्य नहीं है, यदि उससे होगा अपमान,
तो इसकी चिंता न मुझे है, इसका नहीं तनिक भी ध्यान ।

(५७)

किसी रत्न का नहीं निरादर तब तक करते हैं मणिकार,
जब तक उसके गुण-अवगुण का वे कर लेते नहीं विचार ।
यही एक इच्छा है मेरी, नहीं और कुछ चाहूँ आज—
भले-बुरे इस महाकाव्य को अपना लेवे सुकवि - समाज ।

(५८)

इसको पढ़, सुन और मनन कर पाएँगे वे सज्जन हर्ष—
जिनका चित्त मुदित होता है देख दूसरे का उत्कर्ष ।
जो औरों की महिमा सुनकर मन में होते सुखी महान ;
कभी नहीं पर-निंदाओं को सुन पाते हैं जिनके कान ।

(५९)

जो प्रतिदिन निज तन-मन - धन से पर - हित में रहते लवलीन ;
नाम - मात्र जिनका लेने से पावन बन जाता है हीन।
प्रेम - भाव दिखलाते, सबके सदा बने रहते जो मित्र,
उन्हें करेगा मुदित मनोहर * नल - दमयंती - चारु - चरित्र।

(६०)

किंतु सदा जिनके दुर्मुख में पर - निंदा - विष करता वास ;
जो अपना कर्तव्य मानते करना पर - यश - काया - नाश।
ऐसे मनुज - वेष सर्पों से किसको भय होगा न महान—
हैं जिनकी अति मंद दृष्टि में सभी वस्तुएँ दोष-निधान।

(६१)

वैर विना कारण करके जो नहीं चाहते पर - उत्कर्ष ;
सदा कलंक लगाने में ही जिन्हें प्राप्त होता है हर्ष।
ऐसे अज्ञानी दुर्जन ही सबकी हँसी उड़ा दिन - रात—
ख़ूब जला करते मन - ही - मन देख - देख पर-उदय-प्रभात।

(६२)

भुवन-विमोहन मधुर स्वाद - युत कविताऽमृत-रूपी पय-पान—
दुष्ट - भुजंगम द्वेष - गरल की करता है अभिवृद्धि महान।
सज्जन-यश-घनघोर - वृष्टि से दुर्जन - हर्ष - आक-तरु - पत्र—
वैसे ही गिर जाता, जैसे कामी - कुटिल भूप का छत्र।

(६३)

जो जिसके गुण नहीं जानता, वह उसका करता अपमान ;
फल-दल-हीन सुमेरु-शैल को कहते हैं कपि दोष-निधान।
शून्य-हृदय इस महानंद को कभी नहीं सकता है जान;
क्या होती संतान-सुखों की कहीं नपुंसक को पहचान?

* मन को हरण करनेवाला नल और दमयंती का सुंदर चरित्र।

(६४)

अपनी महामूढ़ताओं को दुष्ट नहीं देता है दोष;
दुर्बल-देह मनुज करता है बार-बार दरज़ी पर रोष।
गाना जिसे नहीं आता, कब उसने ठीक बताया साज?
अंधकार दीपक के नीचे नहीं देखता दुष्ट-समाज।

(६५)

चौर-दृष्टि में सभी चौर हैं सच्चे, सीधे, साहूकार;
मूढ़ों को ही मूढ़ दीखते विद्याओं के पारावार।
जो अपने को मान रहे हैं मेधावी, मतिमान, महान—
कहते हैं विद्वान उन्हें ही पशु-समान अज्ञान-निधान।

(६६)

ऐसे मनुजों को करता हूँ नमस्कार मैं वारंवार;
और यही कहता हूँ उनसे, सोच समझकर, खूब विचार—
वे इसके * अवलोकन का भी करें न अनुचित कभी प्रयास;
उन्हें नहीं यह होगा रुचिकर, है मुझको इसका विश्वास।

(६७)

सुजनों से अति - नम्र - भाव से कहता हूँ यह अंतिम बात—
पक्षपात तजकर वे इस पर निज - सम्मति देवें अचिरात।
मिथ्या गान करें न गुणों का, हो न सत्यता से संताप,
क्योंकि सत्य-सा पुण्य नहीं है, और झूठ-सा कहीं न पाप।

(६८)

अधिक क्या कहूँ, उन्हें ज्ञात हैं भले-बुरे सब मनुज-चरित्र;
निज - मन को पावन रखने से उन्हें दीखते सभी पवित्र।
मानस-मुकुर समल होने से अमल ज्ञात होगा न पदार्थ;
हृदय-स्वच्छता पर सब निर्भर, कहते हैं यह वेद यथार्थ।

* 'नल नरेश'-नामक महाकाव्य के।

(६९)

आदर किए विना कस्तूरी निज परिचय देती तत्काल ;
जल का जल, पय का पय करता विना कहे ही मंजु मराल।
विनय विना ही भले-बुरे का सज्जन बतलाता है हाल ;
श्रेष्ठ जौहरी के कर में ही करता प्रकट गुणों को लाल।

(७०)

गंगा का, अपवित्र भस्म का रखते हैं शिव मान समान ;
मणि के साथ तुच्छ मुक्ता का करते हरि सम्मान महान।
सुरतरु - सुमन - संग किंशुक भी पा जाता जैसे सत्कार—
वैसे ही कवियों का होगा 'नल नरेश' आदर - आगार।

(७१)

साथ पुष्प - माला के बनकर तुच्छ सूत्र भी गौरव - धाम—
इंद्रादिक देवों के सिर पर लगता है कैसा अभिराम ?
यह अनुमान, लिखा है इसको, पावेगा यह भी कुछ मान—
उन कविताओं की संगति से, जिनके लेखक हैं विद्वान।

(७२)

जो कुछ है, सो आज आपके सम्मुख है यह काव्य विशाल ;
इसकी टूटी - फूटी कविता पढ़ भूलें लें आप सँभाल।
क्या मैं, क्या मेरी मतिमत्ता, इसमें है जो कुछ भी सार—
वह है 'रामप्रताप' * - अनुग्रह, 'वेदव्यास' - कथा - विस्तार।

(७३)

नाटक, ग्रंथ, कथानक जितने हैं नल - विषयक, विलसित - गात्र—
जिनको सुना, गुना है, उनके लेखक धन्यवाद के पात्र।

---

* मेरे पूज्य पिताजी का शुभ नाम। आपका २० मार्च १९३२ को, दिन के ११॥ बजे, श्रीकृष्ण रटते-रटते, वैकुंठवास हो गया।

विप्र - सुदामा के तंडुल-से धन्यवाद ये मेरे आज—
क्यों न करेगा मन से स्वीकृत कृष्ण-समान कवींद्र-समाज।

(७४)

त्रुटियाँ करना मनुज-धर्म है, उन्हें क्षमा करना प्रभु-कर्म ;
वय - विद्या में वृद्ध आप हैं, स्वयं जानते हैं सब मर्म।
किंतु यही आशा है, मेरे दोषों पर करके न विचार—
इसे आप अपना लेवेंगे आदि - अंत तक देख, सुधार।

(७५)

कभी नहीं ऐसा हो सकता, दोषी में गुण हों न अनेक—
और नहीं ऐसा भी होता, हो न गुणी में दूषण एक।
माया-काया में होते हैं अवगुण-गुण-युत सभी पदार्थ ;
सकल गुणों की महाराशि तो रहती है केवल ईशार्थ।

(७६)

उन उत्तम गुण-गण-मय-हरि से यही विनय है मेरी आज—
मेरे चंचल चित्त-बीच वे करते हुए निरंतर राज—
हरें कुमति सब, भरें भाव वर, करें प्रखर प्रतिभा का दान—
तत्पश्चात् सुयश भी देवें, हर लेवें मेरा अज्ञान।

(७७)

करके नाश अविद्या का वे देवें निज दर्शन अभिराम,
फिर सामीप्य मुक्ति का वर दे कर देवें मुझको निष्काम।
आशा है, निज भक्त-विनय को शीघ्र सुनेंगे त्रिभुवन-नाथ ;
तन में, मन में, रण में, वन में रहते हैं जो सबके साथ।

(७८)

विद्या - बुद्धि - निधान, ज्ञानवान, बलवान जो—
वे सुजान दें ध्यान, हैं महान गुण - खान जो।

(७१)

करता हूँ यश - गान * नल नरेश भूपाल का;
है जो महिमावान, नाशक जन - जंजाल का।

---

* यश-गान। नल की महिमा का वर्णन।

दूसरा सर्ग

(१)

वाणी-गुरु * की बुद्धि जहाँ पर बनी दिवानी,
वाणी की भी और जहाँ थक जाती वाणी,
उसका वर्णन पूर्ण करेगा कैसे प्राणी ?
विद्या-बुद्धि-विहीन और मुझ-सा अज्ञानी,
तो भी दिग्दर्शन उचित निषध-देश का जानकर,
है प्रयास मैंने किया गुरु-गणेश का ध्यान कर।

(२)

अति भीषण, कमनीय, कठिनतम कायावाले,
होते थे जो ज्ञात दूर से काले-काले,
ठीक नापना जिन्हें व्योम-मग का आता था,
जिनको नर-कर नष्ट नहीं करने पाता था,
ऐसे गिरियों से घिरा रहता था यह देश-वर †;
जिसे मानते देव थे देवलोक से दिव्यतर।

(३)

हरी-हरी वनराजि सर्वदा रहती इन पर;
लेता था विश्राम इन्हीं पर क्योंकि सुधाकर।
पुष्प-युक्त थे कहीं, कहीं पर नहीं पुष्पधर—
थे, वे तारक-निकर, बना उन पर अपना घर।

---

* ब्रह्मा। गुरु = पिता। † निषध-देश।

सदा, सदागति* सौख्य को देती थी सब ओर वह ;
शैल-श्वास-गति या कि थी शीतल-मंद-सुगंध यह ।

(४)

लता, वृक्ष, पाषाण, धान्य के ये निधान थे ;
प्राणी-जन्म - स्थान और ये धातु-खान थे ;
रहते थे ये सदा निषध के रक्षक होकर ;
उसके अरि-हित और भयंकर भक्षक होकर ।
रहता शोभा-संपदा सदा वहीं को थी वहीं ;
ये उसको बाहर कभी जाने देते थे नहीं ।

(५)

महाशक्ति† से रचित, शक्तिशाली, अति दृढ़तम—
थे ये रक्षा-हेतु देश को सैनिक अनुपम ।
करनेवाले विफल देवपति-पवि के ये थे ।
या द्युतिमान-निधान, प्राकृतिक छवि के ये थे ।
या शोभा-सीमा-सदन, सदन-सदनहर‡ सुमन-हर—
बने हुए थे ये सभी अति सुंदर गिरि-वर-निकर ।

(६)

ये नग पैदा कई तरह के नग करते थे—
जो दिनमणि+ मणि-गर्व, विष्णुमणि-मद हरते थे ।
चलते थे ये अचल अचंचल भी कहलाकर -
पल-पल चोखी चाल फैलकर इस अचला पर ।
बन अपंग ये लग्न थे धरणी-धारण-धर्म में ;
जड़ होकर भी दक्ष थे प्राणि-पालन-कर्म में ।

---

* पवन । † प्रकृति । ‡ पर्वत-प्रिय महादेव । + सूर्य, रत्न और कौस्तुभ के कांति-गर्व को ।

(७)

थे न वैद्य थे, किंतु ठीक औषध देते थे ;
थे न तृषित थे, किंतु घनों को पी लेते थे।
थे कठोरतम सभी, तदपि ये दीनपाल थे ;
थे सुंदर ये, तदपि दूर से महाकाल थे।
रहते थे ये इंद्र के कोप-पात्र ही सर्वदा ;
बाँसों बढ़ती नित्य थी तो भी इनकी संपदा।

(८)

इनसे ऋद्धि, समृद्धि, सिद्धि की नदियाँ बनकर—
बहती थीं सब ओर देश के बीच निरंतर।
जलदागम* में सभी अमल जल से भरती थीं,
किंतु किसी की हानि नहीं ये कुछ करती थीं।
इनसे परिपोषित सदा सस्य-राम† आराम थे ;
इनके तीरों पर कई बसे हुए पुर, ग्राम थे।

(९)

निषध देश की धरा उर्वरा ही रहती थी ;
इससे कुछ भी कष्ट नहीं जनता सहती थी।
होती थीं उत्पन्न वस्तुएँ यहाँ मनोहर ;
जन-समाज के लिये बहुत उपयोगी होकर।
खाद, बीज, जल की इसे नहीं ज़रूरत थी कभी ;
किंतु प्रथा-अनुसार ही थे आवश्यक ये सभी।

(१०)

खेतों को लख‡ हरे, कृषक-जन-हृदय हरे थे ;
उनके धन से और धान्य से धाम भरे थे।

---

* वर्षा-ऋतु में। † सुंदर, अभिराम। ‡ खड़ी बोली में भी इसका प्रयोग होते देखा है। लखना, लेखना, पेखना = देखना।

किसी तरह की आह और कुछ चाह नहीं थी;
आती थी सब राह उन्हें, पर दाह नहीं थी।
कभी किसी की प्रेरणा नहीं यंत्रणा थी यहाँ;
किंतु धर्म की धारणा और मंत्रणा थी यहाँ।

(११)

था जिनका बस काम दूध देना नदियों तक—
देती थीं जो बहा और उसकी नदियों तक—
रखते थे वे सदा धेनुएँ ऐसी नवला—
महाश्यामला और पुनीता, पीता, धवला।
इनको गोचर-भूमि का थी न न्यूनता दुःखदा;
अतः अधिकता से यहाँ थीं गौएँ अति दुग्धदा।

(१२)

था निर्मल जल-वायु निपध का अतिगुणकारक;
बतलाते थे जिसे व्याधि का व्याधि-निवारक।
वर्षाती वर्षा न यहाँ पर कभी अधिक जल;
वस्त्र-वृद्धि के लिये शीत पड़ता था केवल।
खोने नरमी धान्य की गरमी पड़ती थी यहाँ—
वृक्ष-फलों में पकता जिससे चढ़ती थी यहाँ।

(१३)

सुखमय समय-प्रवाह यहाँ था संतत बहता;
धरना देकर क्योंकि घनागम* बैठा रहता।
सब देशों से इसे मानकर महा मनोहर—
खाए भला उधार शिशिर बैठा था इस पर।
था वसंत ऋतुराज भी पैर तोड़ बैठा जहाँ—
प्रकृति-दत्त सौंदर्य का भला ठिकाना क्या वहाँ!

---

* वर्षा-ऋतु।

(१४)

आ करके मन यहीं हर्ष का हरा हुआ था;
मंगल-मानस क्योंकि यहाँ पर भरा हुआ था।
सुख के महासमुद्र मोद से उछल-उछल कर—
लेते थे आनंद-हिलोरें सदा यहाँ पर।
शत स्वर्गों की शांति के सारे सत को खींचकर—
था इस पर डाला गया दोनो आँखें मींचकर।

(१५)

होती थी संसार-शक्ति की यहाँ ढलाई;
बिकती थी सर्वत्र मोद की यहाँ मलाई।
मानव-बल का यहीं कारख़ाना था उत्तम;
शुभ शकुनों का यहीं ख़ज़ाना था अति अनुपम।
बीसो बिसवा सत्य है यों कहना इसके लिये—
अजर-अमर भी सर्वदा मरते थे जिसके लिये।

(१६)

इसमें ग्राम ललाम, पुरी, पुर, बड़े-बड़े थे;
जिनमें अचलाकार* कई प्रासाद खड़े थे।
गंध-धाम-आराम यहाँ पर स्थान-स्थान पर—
देते थे आराम अमल जल-पवन पान कर।
सुंदरता-आगार ही यहाँ बड़े बाज़ार थे,
और राजपथ† भी सभी निर्मलता-आधार थे।

(१७)

विद्यालय थे कई, निषध में न्यायालय थे;
दानालय थे और कला के कर्मालय थे।

---

* पर्वत के आकारवाले, अतिविशाल। † सड़कें।

पहले, चौथे सदा भरे ही दिखलाते थे;
बाक़ी के दो किंतु रिक्त * प्रायः पाते थे।
इसका कारण था नहीं, जन-धनादि की न्यूनता,
किंतु शुद्ध व्यवहार था, थी दरिद्र की शून्यता।

(१८)

एक-पत्नि-व्रत-नियम नरों में था अति शोभित;
पतिव्रताएँ उन्हें सदा करती थीं मोहित।
निज वैभव में गर्व शची का जो खोती थीं
वाणी के ही तुल्य श्रेष्ठ विदुषी होती थीं।
ऐसी सतियों का यहाँ महामान-सम्मान था;
जो मानव-अभिमान था, देशोन्नति-पहचान था।

(१९)

दया-धर्म की, सभी गुणों की महाखान जो,
विद्या-बुद्धि-निधान, अलौकिक शक्तिवान जो,
सबका प्रिय गुरुराज, पढ़ानेवाला सबको,
ब्रह्म-शिखर पर और चढ़ानेवाला सबको—
ऐसे ब्राह्मण-वंश का झंडा गड़ता था यहाँ;
पद-नख पुजता था यहाँ, डंका बजता था यहाँ।

(२०)

रण-विद्या-आचार्य, वीर्य-बलशाली, दानी,
विभव-धाम, निष्काम, महामानी, नय-ज्ञानी,
कर्म-धर्म-लवलीन, प्रजा-प्रेमी, प्रिय शासक,
धीर, वीर, गंभीर, विजेता, वैरी-नाशक,
थे ऐसे क्षत्रिय यहाँ, जो न काल-भय मानते;
पर-पीड़ा में और जो मर जाना थे जानते।

---

* एकमात्रिक।

(२१)

वित्त - शास्त्र - संपन्न, अन्न - धन - वृद्धि - कार जो,
ज्ञानवान, गुणवान और थे यशागार जो,
देश - देश - व्यापार, गणित के थे जो ज्ञाता,
भाग्य-विधाता और दीनजन-त्राता, दाता—
ऐसे वैश्यों की यहाँ चलती थी वह लेखनी—
कर देती थी जो उन्हें विज्ञानी, मानी, धनी।

(२२)

शिक्षित, महासुशील, अदोषी, अति संतोषी,
सदा अरोषी, किंतु शत्रु के थे जो शोषी,
प्रभु-हितकारी, दक्ष, निरंतर आज्ञाकारी,
धर्माचारी, शांत और थे जो बलधारी—
ऐसे शूद्रों का यहाँ प्रभुत्रों को अभिमान था;
क्योंकि सुसेवा-धर्म का उनको पूरा ज्ञान था।

(२३)

निगमागम - आदेश विप्रवर थे बतलाते;
बढ़ा बाहुएँ वीर सुरक्षित उसे बनाते।
करने उसको पूर्ण वैश्य सामग्री देते;
बाक़ी का सब काम शूद्रजन थे कर लेते।
यही नियम इस देश में पाला जाता था सदा;
बसते थे इससे यहाँ सिद्धि-शांति-सुख-संपदा।

(२४)

थे अपना मस्तिष्क लड़ाते सुख से शर्मा;
दिखलाते थे हाथ पुराने बल से वर्मा।

करते थे सब गुप्त पेट* के बल से कर्षित;
हो पैरों पर खड़े दास थे मन में हर्षित।
एक धीर थे धर्म में, एक वीर थे वर्म † में;
एक विज्ञ थे मर्म में, एक दक्ष थे कर्म में।

(२५)

रखते थे निज लक्ष्य एक ही सब नर-नारी;
धारण करते वेष एक ही थे सुखकारी।
थी उनकी अति शुद्ध एक ही भाषा उत्तम;
और मानते धर्म एक ही थे वे अनुपम।
खींचा-तानी नहीं संप्रदाय-गण की जहाँ;
बहती रहती है सदा शीतल गंगा ही वहाँ।

(२६)

भेदभाव का खेद नहीं इनमें बढ़ता था;
छुआछूत का भूत नहीं इन पर चढ़ता था।
रहता था सर्वत्र देश में क्षेम निरंतर;
था मनुजों में क्योंकि यहाँ पर प्रेम परस्पर।
जीवन पर सौभाग्य की साड़ी सजती थी यहाँ;
और विश्व-बंधुत्व की वंशी बजती थी यहाँ।

(२७)

वीरसेन के बड़े पुत्र, नल, अति बल-धारी;
पराक्रमी, नीतिज्ञ और वैरी-बल-हारी—
शासन करते श्रेष्ठ निषध में थे सुखकारी—
था वैभव का और शांति का जो संचारी।
इसमें प्राणी-मात्र का शांति-सहित उत्कर्ष था;
तीनों लोकों में अतः यही देश आदर्श था।

---

* गुप्त धन, अन्न-वस्त्रादिक। † रक्षा करने में।

(२८)

नल महान विद्वान, अलौकिक रूपवान थे ;
बुद्धिमान गुणवान और अति शक्तिवान थे।
हय - विद्या - आचार्य, धनुर्धारी थे अनुपम ;
कीर्तिवान थे, और प्रजा-पालक थे उत्तम।
ज्ञानवीर थे वे महा, दानवीर, रणवीर थे ;
सत्यवीर थे और वे दयावीर थे, धीर थे।

(२९)

वे आनन कर प्राप्त एक ही महा मनोहर—
थे चतुरानन-सदृश वेद-वाणी-प्रिय होकर।
निज - यश - व्यापी और भक्तजन - वैभव - दायक—
होकर, थे वे महा-विष्णु-सम लक्ष्मी - नायक *।
मनुज-महेश्वर वे बने, नागराज † गण-पुष्टि-कर—
वामदेव थे वाम-हर दास-आशु ‡ मन-तुष्टि-कर।

(३०)

मित्र + - समान प्रताप-ताप-कारी करुणाकर—
थे वे मानव-मित्र लोक को सुखी बनाकर।
रवि होकर भी सदा काम विधु का करते थे ;
दर्शक-मन में सौख्य-शांति को वे भरते थे।
इंद्र-सदृश थे वे सदा, वज्र-प्रतिज्ञा-शक्ति-धर ;
दैत्य-दुष्ट-मनुजारि थे, सुमनस § विबुध-प्रमोद-कर।

(३१)

बसते जिसके हृदय बीच हैं अंतर्यामी,
जो उदार, गंभीर, वाहिनी × गण का स्वामी,

* श्रीलक्ष्मी और राज्य-लक्ष्मी या सम्पत्ति। † हाथी और सर्प।
‡ आशुतोष=शिव। + सूर्य। § सर्वत्र श्लेष। × नदी और सेना।

मर्यादा को नहीं तोड़नेवाला है जो,
शरणागत को नहीं छोड़नेवाला है जो,
ऐसे पयनिधि-सदृश वे नल वसुधाधिप थे अहो!
जहाँ सभी गुण-रत्न हों, वह रत्नाकर क्यों न हो?

(३२)

नल-आनन को देख कांत कमलों का कानन—
उसे चंद्रमा मान, स्वयं होता मुकुलानन।
पर जब उसमें दोष नहीं कुछ भी पाता था—
तब वह सविता मान उसे फिर खिल जाता था।
था ऐसा ही वदन वह, मदन-वदन-मद-मान-हर,
बसता था जिसमें सदा हिमकर-दिनकर-गुण-निकर।

(३३)

शुद्ध हृदय में शौर्य, शांति-सुख के बहने से—
और वहाँ उत्साह-धैर्य के भी रहने से—
अधिक दया सामर्थ्य, क्षमा के बढ़ जाने से—
और विश्व-अनुराग-राग के चढ़ जाने से—
नल-वक्षस्थल आप ही दृढ़-उन्नत था हो रहा;
और इंद्र के वज्र का उग्र गर्व था खो रहा।

(३४)

नाग-लोक को जीत और फिर शासन करने—
नागराज के भूमि-भार को अथवा हरने—
छिटक गईं जो भला जानुओं से भी बढ़कर—
थीं ऐसी ही महाबाहुएं नल के दृढ़तर।
ऐरावत भी दूर से हाथ जोड़ता था जिन्हें,
और काल भी युद्ध में नहीं मोड़ता था जिन्हें।

(३५)

सुरतरु-किसलय-कमल-महा - कोमलता - मद - हर—
था नल का कर युग्म अलौकिक रक्त-कांति-धर ।
शंखादिक सब चिह्न प्रकट सब उसमें होकर—
बना रहे थे उसे और भी महा मनोहर ।
एकाकी ही वह उन्हें * रखता अपने पास था—
और चतुर्भुज-रूप का करता यों उपहास था।

(३६)

सिंधुज गज भी जिसे देख दुःखित होता था;
और हाथ † का गर्व हाथ से जो खोता था।
रंभा‡ जिसे निहार आप ही शर्माता था;
रंभा को भी जिसे स्पर्श करना भाता था।
ऐसा जंघा-युग्म था, नल का पावन, श्रेष्ठतम—
मृदुल, पृथुल, अति कठिनतम और असमसर + -करभ-सम।

(३७)

जिनकी छाया में न क्रांति की छाया आती—
और जहाँ पर सदा शांति ही थी लहराती।
विष्णु§-चरण में जिन्हें पूजते थे सुर उत्तम;
देते थे जो शरण, सभी को विष्णु-चरण-सम—
नल के ऐसे पद-कमल, नत-नृप-शिर-मणि-स्पर्शकर—
होते जाते नित्य थे भला और भी मृदुलतर।

(३८)

ऐसे नल मनुजेंद्र, इंद्र-मद - गौरव - हारी—
निषध-देश में राज कर रहे थे सुख - कारी।

---

* शंखादिक सभी चिह्नों को अकेला नल-कर-युग्म ही रखता था।
† शुंड, सूँड़। ‡ केला। + कामदेव, करस्य करभो बहिः। § आकाश।

कहला करके अमर, अमर थे जिस पर मरते ;
थे शासन यों नहीं पाकशासन भी करते ।
सुर-नर-मुनि-वर सब इसे बतलाते थे श्रेष्ठतम ;
क्योंकि सभी जन सुख यहाँ पाते रहते थे न कम ।

(३९)

धाराएँ * उस काल नीर में ही रहती थीं ;
कच-कुच-भार अपार नारियाँ ही सहती थीं ।
दंडी को ही दंड वहाँ पर जन देते थे ;
धर्म - कर्म - अभियोग - हेतु ही धन देते थे ।
खड़ी एक रहती वहाँ धूप-घड़ी ही धूप में ;
पड़ते थे फाँसी पहन कनक-कलश ही कूप में ।

(४०)

पिटता था घड़ियाल, गढ़े जाते थे गहने ;
पड़ते थे कुछ कष्ट कभी स्वप्नों में सहने ।
थे शिल्पी ही महादक्ष करने में जाली ;
काली थी तो वहाँ एक ही बस काकाली ।
लाली आँखों में नहीं, पाती थी पर भक्त में ;
और अंध - विश्वास था केवल सच्चे भक्त में ।

(४१)

उड़ती थी बस धूलि वहाँ केवल सुमनों से ;
था शंखों का शब्द गूँजता सुर-भवनों से ।
करता था आराम तिमिर आराम-गणों में ;
रहती थी बस जलन ज्वलन † में, नहीं जनों में ।
रामायण में दीखता दनुज-उपद्रव था वहाँ ;
उसी स्थान पर क्लेश था, सभी शब्द मिलते जहाँ‡ ।

---

* यहाँ से परिसंख्यालंकार है । † अग्नि । ‡ कोष (श) में ।

(४२)

थे मधु-लोभी मधुप, नहीं नर-नारी पाते ;
नशा और उन्माद नशों में ही थे छाते ।
मन को आता नहीं, कचों को काला होना ;
अभिनय* में ही एक वहाँ था रोना-धोना ।
भय था बस भगवान का, और किसी का था नहीं ;
प्याले पीते प्रेम के वहाँ मनुज थे हर कहीं ।

(४३)

थे सब गूँगे वहाँ एक मिथ्या भाषण में ;
थे कठोर भी सभी, किंतु मन के शासन में ।
मनुज कुटिल थे वहाँ शत्रु-यश के हरने में ;
और चोर थे कहीं, चित्त-चोरी करने में ।
पंगु निषध में थे सभी निंद्य-मार्ग-प्रस्थान में ;
अंग-हीन थे और वे इष्टदेव के ध्यान में ।

(४४)

संन्यासी ही वहाँ नियम, यम, संयम के बल—
वनोबास के कष्ट सहन करते थे केवल ।
होता था बस वहाँ सेतुओं का ही बंधन ;
सुमन-हीनता और सदा रखता था चंदन ।
सब कामों में मनुज को मिलती थी फल-संपदा ;
रहता था निष्फल वहाँ एक ईख ही सर्वदा ।

(४५)

राम-राज्य-सम श्रेष्ठ-प्रेष्ठ था नल का शासन ;
कंपमान था जिसे देख भय से इंद्रासन ।

---

* नाटक ।

सबसे पहला धर्म देह-रक्षा होती है ;
चतुर्वर्ग का बीज हृदय में जो बोती है ।
जनता-पालन छोड़कर इसका पालन कीजिए ;
मृगया-द्यूत-विनोद से मोद स्वमन को दीजिए ।

(२३)

"सबके* दुःखों को द्यूत शीघ्र ही हर लेता है ;
श्रांत चित्त को और प्रफुल्लित कर देता है ।
श्रेष्ठ कला है नहीं जगत में कोई ऐसी—
अति आनंदागार द्यूत-क्रीड़ा है जैसी ।
आप कीजिए इसलिये कुछ इसका अभ्यास अब,
जिससे मिट जाया करे शासन का श्रम-भार सब ।"

(२४)

सुनकर ऐसे वचन दुष्ट भाई के मुख से—
उत्तर में नल उसे लगे यों कहने सुख से—
"राज-काज को छोड़, काम जो मेरा उत्तम—
खेलूँ तुझसे द्यूत, बात है कैसी अनुपम !
प्रजा-पालना ही प्रथम राजाओं का धर्म है ;
और श्रेष्ठ शासन सदा उनका पहला कर्म है ।

(२५)

"आते - जाते या कि उठाते - मरते - जीते,
रोते - सोते और जागते - खाते - पीते,
है नृप का कर्तव्य एक जनता - हित - चिंतन,
इसके पीछे उसे उचित है उसका साधन ।

---

* द्यूत की यह मिथ्या प्रशंसा है । नल को फुसलाने के लिये ही पुष्कर ऐसा कर रहा है ।

जन-मन-रंजन जो करे है राजा केवल वही;
नाम-मात्र मे लाभ क्या? राजनीति कहती यही।

(५६)

"जो मैं खेलूँ द्यूत रात-दिन आज यहाँ पर—
उत्तर दूँगा बंधु, ईश-सम्मुख क्या जाकर?
क्यों मैं तेरी तरह द्यूत-व्यसनी हो जाऊँ?
क्यों ऐसा आदर्श प्रजाजन को दिखलाऊँ?
अहो! भूलकर भी कभी कर लूँ जो इस काम को,
तो बट्टा लग जायगा मेरे इस शुभ नाम को।

(५७)

"शासन-हित ही मुझे ईश ने जन्म दिया है;
जन-पालन के लिये और मनुजेंद्र किया है।
सहकर स्वयं विपत्ति प्रजा को सुखी बनाने—
हैं सुख के सामान दिए मुझको मनमाने।
इन सबका उपभोग है रोग लगाना देह के;
ताला करना बंद है देव-धाम के गेह के।

(५८)

"देता हूँ कुछ दोष नहीं मैं तुझको पुष्कर!
करता हूँ इस काल कोप भी और न तुझ पर—
होती है वह बात क्योंकि जो होनेवाली;
काल-चक्र का वार नहीं जाता है ख़ाली।
रहते हैं दिन एक-से नहीं किसी के भी कभी;
भाई! इस लोकोक्ति को सुधी जानते हैं सभी।

(५९)

"माया को भी नाच नचानेवाले हैं जो;
सब लोकों को और रचानेवाले हैं जो।

जिनका लेकर नाम मुक्त जन हो जाता है ;
ईश्वर* भी तो पता नहीं जिनका पाता है।
ऐसे त्रिभुवन-नाथ ने वन-वन में फिरकर कभी—
सहने के थे जो नहीं, कष्ट सहे थे वे सभी।

(६०)

"जो सोते हैं अभी सेज फूलों की सजकर ;
लोटेंगे वे कभी तीक्ष्ण कंटक-शय्या पर।
सहकर अत्याचार भोगते आज† कष्ट जो—
और शत्रु को दुःख रहे हैं नष्ट-भ्रष्ट जो—
ऐसे मानव कल भला गला काटकर हाथ से—
कर देंगे अरि का पृथक् प्राणों के भी साथ से।"

(६१)

इतना कहकर बंद कर लिए नल ने लोचन ;
बाह्य जगत का किया और फिर शीघ्र विमोचन।
दृश्य अनोखा एक उन्होंने देखा ऐसा—
दिया नहीं था उन्हें कभी दिखलाई जैसा।
उसके अंतिम भाग को दिखलाता हूँ मैं यहाँ—
क्योंकि जगत में पूर्णता मिलनेवाली है कहाँ ?

(६२)

उसी महल में जहाँ निरंतर वे रहते थे,
और बंधु से जहाँ अभी वे कुछ कहते थे,
देखा तापस वहाँ उन्होंने एक सुदुर्बल ;
ऋषियों की-सी देह नहीं थी जिसकी उज्ज्वल।

---

* ईश्वरस्सर्वईशानः=महादेव। इत्यमरः। † जो आज...वे कल...से संबंध है।

जिसने रक्खे थे पकड़, तप से मन को मोड़कर—
एक सुंदरी के चरण, निज-वेदी को छोड़कर।

(६३)

गद्गद वाणी-युक्त बात वह कुछ कहता था;
मानो भीषण दुःख-सिंधु में वह बहता था।
जिससे उसे निकाल नहीं सकती थी नारी;
पर करता था यत्न एक मानव बलधारी।
खड़ा हुआ था शांति से जो उस स्त्री के पास में;
आँसू ही थे भर रहे जिसके कोमल हास में।

(६४)

इसके आगे खड़े हुए थे महा मनोहर—
दो प्राणी सुकुमार, चित्त में चिंतित होकर।
जिनको वेदी ज्ञात एक चौसर होती थी;
जिसके सम्मुख आज वही माता रोती थी।
जिसने कुंडिन-नगर को भेजा था उनको कभी—
देकर निज वस्त्राभरण इसी तपस्वी को सभी।

(६५)

भेद क्या है इस अलौकिक दृश्य का?
पूछिए मत, जान मन में जाइए।
छोड़ पाठक! इस कथा को आप अब—
'भीम राजा' के निकट में आइए।

तीसरा सर्ग

(१)

था दक्षिण में देश 'निषध' के एक मनोहर ;
तजते थे सुर गर्व स्वर्ग का जिसे देखकर ।
अमरपुरी भी महामुग्ध होती थी जिस पर ;
था वह ऐसा श्रेष्ठ, महापावन, सुंदरतर ।

(२)

स्त्री में नव-लावण्य रूप जैसे भरता है,
महासुंदरी नाम और उसका करता है,
उसी प्रकार 'विदर्भ' देश स्थित होकर भू पर—
वसुंधरा यह नाम धरा को देता सुंदर ।

(३)

जैसे सुंदर सती हार से छवि पाती है,
और लता पर कांति पुष्प से चढ़ जाती है,
वैसे ही कर दिव्य देश को उर पर धारण—
थी धरणी हो गई स्वर्ग-छवि-मद-क्षय-कारण ।

(४)

इस विदर्भ की महा मनोहर, श्रेष्ठ सजावट—
अद्भुत-अनुपम छटा और रमणीय बनावट—
उमड़ा करके सिंधु सदा सुखदा शोभा का—
करती थी उपहास विश्वकर्मा-रचना का ।

(५)

था शरीर द्युतिमान शैलमय सुंदर इसका,
था शोभन निर्माण मनुज-सुख-दायक जिसका,

निकली गोदावरी उसी से महानदी है;
जिनने * किसको मुक्ति-युक्ति भी महा न दी है?

(६)

निर्मल जल-कल्लोल, लोल इनमें चलती थी;
जिसको मंदाकिनी देख मन में जलती थी।
इनके तट उपप्रांत बड़े ही घन कानन थे;
संतजनों के और वहाँ आश्रम पावन थे।

(७)

पशु-पक्षी थे सभी सौख्यकर और मनोहर;
रहते थे जो सदा परस्पर प्रेमी होकर।
नाम-मात्र को भी न द्वेष का कहीं नाम था;
नहीं काम से, किंतु काम से वहाँ † काम था।

(८)

कहीं-कहीं पर पुष्प प्रफुल्लित छवि देते थे;
भृंग-वृंद को बुला गंध से वे लेते थे।
अपना मधु-मकरंद मधुर वे उन्हें पिलाते;
होकर वे मद-मत्त मंजु गुंजार सुनाते।

(९)

झर-झर करते कहीं ज़ोर से झरने बहते;
'दर्शनीय है दृश्य' देख दर्शक यों कहते।

---

* जिन्होंने (गोदावरी और महानदी) किस प्राणी को मोक्ष की महा युक्ति नहीं प्रदान की है। † उन आश्रमों में तपस्वी लोग कामदेव के वशीभूत नहीं थे, किंतु अपने काम तपश्चर्या से ही काम रखते थे।

खल-खल करता हुआ और फिर कल-कल*, पल-पल—
पल-पल † बहता वहाँ विपुल जल शीतल, निर्मल।

(१०)

शीतकाल में वहाँ और ही शोभा पाती—
धूम-राशि-सम धुंध धरों पर आकर छाती।
मानो गिरिवर-शिखर-निकर पर था विदर्भ-यश;
स्थित होकर निज रूप जगत को दिखलाता बस।

(११)

या विदर्भ-नृप-कीर्ति वहाँ शोभा पाती थी;
जो नीरद का रूप बना दिव में जाती थी।
अथवा भूप-प्रताप ‡दहन का धूम गहन अति—
उड़ता था रवि-गर्व-दहन हित सहित तीव्र गति।

(१२)

या देती थी अर्घ्य सूर्य को प्रकृति प्रीति से;
था अथवा अति भीत तिमिर × वह भानु-भीति से।
कहता था जो यही "छिपूँगा अब मैं भू पर—
शैल-सुंदरी-दरी § नेत्र-सित-अंजन बनकर।"

(१३)

इन शैलों से स्पष्ट दीखता था कुंडिनपुर;
थे सुर-पुर से श्रेष्ठ मानते जिसे सभी सुर।
इसके चारो ओर एक दृढ़ कोट बना था;
जो पुर-छवि को रोक वहाँ-की-वहाँ रहा था।

---

* जल के बहने की ध्वनि को प्रकटित करने के शब्द। † प्रतिच्छाया। ‡ भीम राजा के प्रतापाग्नि का विचित्र श्वेत धूम। × प्रकाश पड़ने के पहले श्वेत धुंध भी अंधकार-सी प्रतीत होती है। § गुफा।

(१४)

पुर के बीचोबीच संगमरमर से निर्मित—
राजा का प्रासाद हो रहा था अति शोभित ।
जन-मन में यह भाव रूप था उसका भरता—
करती है कैलास-हास इसकी यह सितता ।

(१५)

मंजुल 'मोती-महल' एक था, जिसके ऊपर—
नवलनीलमणि-प्रभा-युक्त नृप जिसमें सोकर—
होता था यों ज्ञात, क्षीर-निधि में विश्वंभर—
विष्णु सो रहे शुभ्र * शेष-शय्या पर सुंदर ।

(१६)

हरि-मंदिर थे वहाँ, शिवालय और सुघर थे ;
जिनके ऊपर लगे हुए शुचि स्वर्ण-शिखर थे ।
बाज़ारों के बीच राजपथ बड़े-बड़े थे ;
सैनिक सुविधा-हेतु जहाँ पर डटे खड़े थे ।

(१७)

थे सुंदर, सुविशाल, सद्म-वर शोभा के घर ;
लगे हुए आराम रम्य थे जिनके पथ पर † ।
जिनमें शीतल-मंद-सुगंध पवन ‡ चलता था ;
सभी तरह की और थकावट वह हरता था ।

(१८)

ऐसे सुंदर, श्रेष्ठ नगर के 'भीम' भूप थे ;
दिव्य गुणों में और रूप में जो अनूप थे ।

---

* शेषनाग का रंग श्वेत है । † सम्मुख अर्थात् पहले बाग़ का दृश्य पीछे महल का । ‡ इसे भाषा में स्त्रीलिंग भी मानते हैं ।

जिनकी शक्ति विलोक सुरासुर सभी व्यग्र थे ;
कृपा-दृष्टि की वृष्टि चाहते वे समग्र थे ।

(१९)

धनदोपम थे विभव और वे अपने धन में ;
रखते थे औदार्य राम के सम ही मन में ।
थे वे सिंह-समान नहीं भय खाते रण में—
और राम * के सदृश बड़े पक्के थे प्रण में ।

(२०)

होकर वे श्रीमान कुपथ में कभी न जाते ;
नारदादि मुनिराज कीर्ति थे उनकी गाते ।
तेजस्वी थे अतुल, प्रभाकर-तुल्य प्रभा में ;
पवि-से भी अति कठिन गात्र थे कर्कशता में ।

(२१)

देख देह-सौंदर्य मंद थी मन्मथ-छवि भी ;
रखते समता नहीं कल्पना में थे कवि भी † ।
निर्जर-गुरु के सदृश शास्त्र के वे थे ज्ञाता ;
बलि राजा-सम और अलौकिक वे थे दाता ।

(२२)

ऐसे भूपति भीम प्रजा को सुख देते थे ;
नीच, मूढ़, चांडाल, शत्रु को दुख देते थे ।
द्विज-वचनों को उठा शीश पर वे लेते थे ;
नाविक बन निज हाथ नगर-नौका खेते थे ।

---

* परशुराम । † जिनकी (विचार-शक्ति) कल्पना-शक्ति कवियों से भी बढ़ी हुई थी ।

(२३)

दुखी मनुज को देख शोक में वे होते थे ;
होकर उसका कष्ट एक क्षण में खोते थे ।
खोकर वे पल-मात्र नींद सुख की सोते थे ;
सोकर फिर सुख-बीज अन्य के हित बोते थे ।

(२४)

कमला-जात * अनंग अंग में उनके रहता ;
कमलापति† को साथ हृदय था उनका रखता ।
कर-कमलों में छिपी हुई थी उनके कमला‡ ;
रहती थी दिन-रात वदन पर कमला × अमला ।

(२५)

भूसुर§-पालक भीम भूमि पर भू-सुरेश + थे ;
वचन-वज्र-प्रिय इंद्र-सदृश ही वे नरेश थे ।
होकर वे दैत्यारि अलौकिक विष्णु-रूप थे ;
कामदेव को जीत हो गए शिव-स्वरूप थे ।

(२६)

वैर-भाव को चंद्र और कमलों ने तजकर—
था सुवास कर लिया मनोहर भीम-वदन पर ।
गिरा, इंदिरा स्वर्ग-लोक से चित्त मोड़कर—
रहती उनके पास सदा थीं द्वेष छोड़कर ।

(२७)

महाप्रतापी भीम हुए थे अनुपम राजा ;
जिनका कीर्ति-प्रसून रहेगा संतत ताज़ा ।

---

* लक्ष्मी-पुत्र, कामदेव । † वह विष्णु-भक्त थे । ‡ कर-कमलों में श्री का निवास था । × निर्मल सौंदर्य, शोभा, कांति । § विप्र-पालक । + पृथ्वी पर रहनेवाले बृहस्पति ।

'कुंडिनपुर'* के बीच स्वर्ग-सम महाशांति थी ;
विष्णुलोक के सदृश वहाँ पर कांत कांति थी ।

(२८)

थे † चौसर में वहाँ कई रहते घर ख़ाली ;
ज्ञान-मात्र के लिये दृश्य थे ताले-ताली ।
शतरँज में ही वहाँ एक पैदल पिटते थे ;
हाथी, घोड़े और ऊँट लड़-भिड़ मिटते थे ।

(२९)

विद्या के ही वहाँ सभी थे भिक्षुक आते ;
लालायित उपकार-हेतु थे जो हो जाते ।
प्रेमोदधि के बीच डूबकर वे बहते थे ;
व्रत करने के लिये और भूखे रहते थे ।

(३०)

रखते थे दो जीभ वहाँ पर सदा भुजंगम ;
गिरते थे बस धातु अग्नि में होने उत्तम ।
थे कटुवादी काक बड़े चालाक वहाँ पर ;
मिलता था हठयोग योग में महाकष्टकर ।

(३१)

कल्पवृक्ष से कांति सुरों की बढ़ती जैसे—
सुरतरु-छवि की वृद्धि देव भी करते वैसे ।
इसी तरह वह नगर और अति श्रेष्ठ प्रजाजन—
बढ़ा रहे थे ख़ूब परस्पर निज सुषमा-धन ।

(३२)

आती थी आनंद-वृष्टि सब ओर दृष्टि में ;
कम थे ऐसे श्रेष्ठ नगर उस समय सृष्टि में ।

---

* राजधानी । † परिसंख्या ।

इसमें नृप-निधि स्वर्ण-रजत से भरे हुए थे;
मणि-मुक्ता-माणिक्य वहाँ पर धरे हुए थे।

(३३)

किसी बात की कमी और कुछ चाह नहीं थी;
दुःख, दंड, दुर्भिक्ष *, दीन की आह नहीं थी।
सबको प्रिय थे भूप, भूप को थे सब प्यारे;
थे सुख के सामान उपस्थित उनके सारे।

(३४)

पर तो भी नरनाथ महा चिंतित रहते थे;
और किसी से कष्ट नहीं अपना कहते थे।
हो करके संतान-हीन वे दीन-सदृश थे;
सुत-जीवन के विना पंक-गत मीन-सदृश थे।

(३५)

निष्फल देख उपाय निकटतम दुष्ट जरा को—
अपने वैभव, कीर्ति और धन-धाम-धरा को—
उनके मन में बनी महाचिंता रहती थी;
शोक-सिंधु में देह और उनकी बहती थी।

(३६)

सुखी कदापि गृहस्थ हो नहीं सकता पूरा;
उसका जीवन पुत्र विना है सदा अधूरा।
सुख के सब सामान दुःखदाता होते हैं;
क्लेश-बीज को और चित्त में वे बोते हैं।

(३७)

महाबली संतान-हीन होकर निर्बल है;
रहकर भी नीरोग रोग से महा विकल है।

---

* अकाल।

बनकर भी विद्वान, दक्ष वह अबुध महा है ;
नहीं किसी ने कभी असुत को सुखी कहा है।

(३८)

है * न पुत्र-उत्पत्ति शक्ति को अपनी खोना ;
पर है अपरा एक शक्ति का पैदा होना।
वंश-वृद्धि के लिये सर्वदा जो होती है ;
वैरी-कुल में और अग्नि को जो जोती है।

(३९)

सुख-सामग्री श्रेष्ठ सभी मिल सकती भूपर ;
और एक-से-एक यहाँ हो सकती बढ़कर।
पर उनमें से नहीं एक भी होती ऐसी—
मोद-दायिनी पुत्र-वस्तु होती है जैसी।

(४०)

पुण्य और वर पुत्र बीज यश का बोते हैं ;
यहाँ-वहाँ भी सदा सहायक वे होते हैं।
पहला तो सर्वत्र मनुज का रहता आता ;
है द्वितीय पुन्नाम नरक का होता त्राता।

(४१)

इसीलिये नर-नाथ यज्ञ करते रहते थे ;
व्रत-संयम के क्लेश-कष्ट को भी सहते थे।
दान, दक्षिणा, धाम, अन्न, धन, पट देते थे ;
शुभ आशिष भी और द्विजों से वे लेते थे।

---

* किसी-किसी की धारणा है कि पुत्र को उत्पन्न करना अपनी शक्ति (शारीरिक बल) को आधा करना है, किंतु यह सर्वथा मिथ्या है।

(४२)

मन-की-मन में रही लालसा, किंतु सर्वदा—
उन्हें प्रयत्नों से न मिली वह पुत्र-संपदा।
गड़ी हुई होती न उसे क्या वे निकालते ?
होती, तो वे खोद सात पाताल डालते।

(४३)

पर वह उनको नहीं मिली वन में, सर-जल में;
और न पाई कहीं शैल में, घर में, थल में।
था उनने सब जगत छान डाला चलनी में;
पर न मिला सुत-रत्न, रहे वे यों ही जी में।

(४४)

वे सागर से हाथ जोड़कर ऐसा कहते;
पृथ्वी की भी ओर खड़े घटों ही रहते।
ब्रह्मा से भी और बहुत विनती करते थे;
पर कोई भी कष्ट नहीं उनका हरते थे।

(४५)

"पुत्र-रत्न दो नाथ! आप ही रत्नाकर हैं;
* रत्न-रत्न-प्रद आप महा अक्षय सागर हैं।"
"†वसुधा! मेरा कष्ट क्यों नहीं तुम हरती हो?
दे दो सुत-वसु मुझे देर अब क्यों करती हो?"

(४६)

स्रष्टा ने भी नहीं दिया जब ध्यान विनय पर;
तब उनने यह कहा चित्त में महा कोपकर—

---

* संख्या प्रकट करने को। † संस्कृत में वसुधे होता है, जिसका प्रयोग भाषा में भी कहीं-कहीं दृष्टि-गत है।

"उन देवों के नाम व्यर्थ है बिलकुल जपना ;
छोड़ दिया है धर्म जिन्होंने अपना-अपना ।"

(४७)

क्या देते वे उन्हें, रत्न-वर वहाँ कहाँ था—
थी योगीश्वर-दृष्टि जहाँ, वह छिपा वहाँ था ।
थी परंतु वह बंद इसलिये सुत क्या करता ?
होकर कैसे प्रकट भीम-चिंता को हरता ?

(४८)

हार गए जब भूप सभी कुछ करते-करते ;
पुत्राशा को और हृदय में भरते-भरते ।
बाक़ी थे दो-चार दिवस जाने के वन में ;
और अतीव हताश हो गए वे जब मन में ।

(४९)

तब उनका खा गया भाग्य भी वैसे पलटा ;
खा जाता है वायु-वेग झट जैसे पलटा ।
क्या विचार था वहाँ, और क्या उन्हें दिखाया—
भगवन् ! अपरंपार ! आपकी अद्भुत माया ।

(५०)

पाया इसका पार आज तक नहीं किसी ने ;
समझा है यह भेद कभी क्या कहीं किसी ने ?
लेता है जो जान, नहीं वह कह सकता है ;
जो जन है अनजान वही केवल बकता है ।

(५१)

माया को भी आप फँसाते हैं माया में ;
रह काया से दूर और बसते काया में ।

जीवन तक दिन-रात आपको मुनि ध्याते हैं ;
तदपि ध्यान में नहीं आप उनके आते हैं।

(५२)

पत्ता - पत्ता पता आपका बतलाता है,
किंतु स्वयं वह कभी नहीं तुमको पाता है।
जो पूछेगा पता, पते को वह खोता है,
पर पाता वह पता, लापता जो होता है।

(५३)

क्या-से-क्या करते न दिखाते किस माया को ?
रखते हो तुम खड़ी किस तरह इस काया को ?
स्थित है वट का वृक्ष बीज में छिपकर* जैसे—
छिपे हुए हो आप सभी चीज़ों में वैसे।

(५४)

मेहँदी-पत्र-समान देह में प्रभु की लाली—
समा रही है सभी कहीं, पर हे वनमाली !
तब तक होती प्रकट नहीं, जब तक हम उस पर।
ज्ञान-नीर को नहीं डालते देह चूर्ण कर।

(५५)

थी जब नृप के बहुत हो गई खलबल मन में ;
थी हलचल-सी मची हुई जब मंत्रीगण में।
योगीश्वर तब 'दमन'†दुःख-दल-शमन आ गए;
मानो सुरपति-सभा-मध्य श्रीरमण आ गए।

---

* कोई-कोई छुपकर भी लिखते हैं। † एक महर्षि का नाम।

(५६)

धूम-पीत-पट-युक्त 'दमन' अति कांतिवान थे ;
जटिल जटा के जूट शीश से लंबमान थे।
पंचानल*ने श्याम किया था अंग-रंग को ;
उनका ऐसा ढंग मोहता था अनंग को।

(५७)

भस्माच्छन्न शरीर ज्ञात होता था ऐसा ,
शरद्-मेघ-आच्छन्न तेज है रवि का जैसा।
कृष्ण कमंडलु-युक्त नहीं था दमन-कमल-कर;
मुकुल-कमल से लटक रहा था भ्रमर-निकर-वर।

(५८)

वायु-वेग से वदन-विभूति वहाँ उड़-उड़कर—
थी प्रताप-शुचि-अग्नि-धूम-सम लगती सुंदर।
कटि के पीछे थी न कृष्ण मृगछाला उत्तम ;
थी गठरी ही बँधी तपस्या की वह दृढ़तम।

(५९)

उनको आते देख भूप-वर खड़े हो गए ;
उनके चिंता, दुःख आप, से-आप खो गए।
सिंहासन पर उन्हें प्रेम से फिर बैठाया ;
नीचे बैठे आप छोड़कर झूठी माया।

(६०)

कंद, मूल, फल, फूल महीपति ने मँगवाए ;
जिनको रुचि-अनुकूल परम योगी ने खाए।
वहाँ उन्होंने दिए कई उपदेश नीति के ,
और विनाशक यत्न बताए जगत-भीति के।

---

* पंचाग्नि-तप से।

(६१)

वे योगी थे महा, जगत-जंजाल-जीत थे ;
देश-भक्त, अनुरक्त ब्रह्म में, काल-जीत थे ।
अद्वितीय वेदज्ञ, सिद्ध थे, वे उदार थे ;
परमहंस थे और ज्ञानिजन-कंठ-हार थे ।

(६२)

था उनने कर घोर तपस्या स्वबल बढ़ाया ;
शम-दम से चांचल्य चित्त का शीघ्र दबाया ।
था जीवात्मा स्वच्छ हो गया इससे उनका ;
आत्मयोग-बल बढा और फिर जिससे उनका ।

(६३)

समुद उन्होंने कहा भीम से बहुत प्रेमकर —
मानो बोले शंभु भक्त से वचन क्षेम-कर ।
"तेरे मंत्री, दास दीखते सभी यहाँ हैं,
पर तेरे युवराज बता तू गए कहाँ हैं ?"

(६४)

कहा भीम ने स्पष्ट हेतु सुन कष्ट-नाश का—
"नहीं छिपा है नाथ ! आपसे हाल दास का ।
होकर आप समर्थ जानते हैं घट-घट की ;
माया भी छिपती न आपसे नागर-नट की ।

(६५)

"हे ऋषिराज ! सुजान ! उसे कैसे बतलाऊँ ?
वस्तु यहाँ जो नहीं, उसे कैसे दिखलाऊँ ?
यद्यपि वह युवराज नहीं है ईश-सृष्टि में ;
है तो भी वह छिपा आपकी कृपा-दृष्टि में ।"

(६६)

सुनकर उत्तम युक्ति 'दमन' अति मुदित हो गए ;
नृप के मन पर शकुन स्वयं ही उदित हो गए।
कहा दमन ने समुद, "भूप' हरि कृपा करेंगे—
तुझे तीन सुत और एक कन्या भी देंगे।

(६७)

"सती, सुंदरी, महापंडिता होगी कन्या ;
उसको सारा जगत कहेगा धन्या-धन्या।
तेरे तीनो पुत्र वीर, पंडितवर होंगे ;
आज्ञाकारी, धीर और सब सुंदर होंगे।"

(६८)

दे ऐसा वरदान 'दमन' चल दिए वहाँ से ;
जा पहुँचे फिर वहीं आगमन हुआ जहाँ से।
मुदित हो गए भीम, प्राप्त कर वांछित फल को ;
मानो हर्षित हुआ तृषित जन पीकर जल को।

(६९)

कुछ वर्षों में उक्ति हो गई ऋषि की पूरी ;
क्योंकि संतजन-गिरा कभी रहती न अधूरी।
पहले उनके हुई सुता दमयंती सुंदर ;
हुए पुत्र दम, दांत, दमन फिर धर्म-धुरंधर।

(७०)

दमयंती ने सभी निजोचित शिक्षा पाकर—
कुंडिनपुर में महा श्रेष्ठ विदुषी कहलाकर—
जान लिया गृह-धर्म, पूज्य जन-सेवा करना ;
और स्वदासी-दासजनों के दुख को हरना।

(७१)

थी शिशु-पालन-रीति उसे माता बतलाती ;
थी सतियों की कथा सुना मन को बहलाती।
उन सबका सारांश एक पति-भक्ति दिखाती ;
हस्त-कला, गृह-कर्म उसे वह स्वयं सिखाती।

(७२)

वह दक्षा हो गई सभी कामों में ऐसी—
सुनी न देखी कहीं पंडिता कन्या जैसी।
चंद्र-कला की वृद्धि-मात्र की समता पाता—
था उसका सौंदर्य दिनोंदिन बढ़ता जाता।

(७३)

करते थे आश्चर्य सभी उसका नर-नारी ;
थे उसमें गुण - रूप, गिरा - गौरी-मद-हारी।
दमयंती जब हुई किशोरी ठीक समय में,
तब त्रपादि के चिह्न लगे आने नव वय में।

(७४)

आ जाने पर गंध और भी शोभा-शाला—
हो जाती जिस तरह कमल-कल-कलिका-माला।
दमयंती भी उसी तरह बन त्रपा-धारिणी—
थी छवि से हो गई रमा-रति-गंध-हारिणी।

(७५)

करता वृद्धि पराग पद्मिनी-छवि की जैसे—
वह भी उसकी कांति बढ़ा देती है वैसे।
होकर उसी प्रकार सुशोभित उससे क्षण-क्षण—
देता था द्युति उसे भीमजा का नव यौवन।

(७६)

नल राजा के दिव्य रूप का, कांत-कांति का,

श्रेष्ठ गुणों का, महाशक्ति का और शांति का—

कई मुखों से बार-बार वर वर्णन सुनकर—

थी होने लग गई भीमजा* मुग्धा उन पर।

(७७)

प्रेमोदधि के बीच निरंतर वह बहती थी।

विरह-वेग की महा व्यथा को भी सहती थी।

अपने मन में भव्य भावनाएँ भरती थी।

गुप्त रीति से और इष्ट-चिंतन करती थी।

(७८)

उन्मत्ता-सी कभी-कभी वह भीम-कुमारी—

हो जाती थी भूल देह की सुध-बुध सारी।

सखियाँ इसका भेद किंतु थीं नहीं जानतीं;

भोली-भाली उसे क्योंकि वे सदा मानतीं।

(७९)

ज्ञान-सलिल से सिक्त, उर्वरा हृदय-भूमि पर—

यौवन-रूपी बाल-सूर्य-आतप को पाकर—

प्रेमांकुर तब शीघ्र पल्लवित हो जाता है;

निश्श्वासों का वायु उसे जब सहलाता है।

(८०)

दमयंती की यही दशा होती जाती थी;

सखियों की भी बात नहीं उसको भाती थी।

चंद्रकांत-मणि-सदृश देह बन उसकी शीतल—

रखती थी दिन-रात प्रेम-पावक को उज्ज्वल।

---

* दमयंती। साहित्य में नायिका का प्रेम-वर्णन प्रथम होता है।

(८१)

जो *देता पहचान अलौकिक अपने बल को—
वन विचित्र†, कर सृष्टि भीमजा-लोचन जल की।
हो करके जो ‡ प्रकट किसी के मन के अंदर—
करता था उत्पन्न स्नेह का एक समंदर।

(८२)

दोनो ओर समान प्रेम बढ़ता था पल-पल ;
थे भैमी की तरह हो रहे नल भी विह्वल।
उपवन में रह काम-ताप को वे हरते थे—
कई तरह की और कल्पनाएँ करते थे।

(८३)

जिसको किया नल ने वहाँ निज दूत था—
उस श्रेष्ठ 'मानसहंस' की सुनिए कथा।
जिसमें लिखी खग की अलौकिक युक्ति है —
फिर भीमजा-मुख-पद्म की मृदु उक्ति है।

---

* वह प्रेम-पावक। † अग्नि होकर भी जल (आँसुओं) की सृष्टि करे, यही विचित्रता है। ‡ लोचन-जल की सृष्टि अर्थात् नल और दमयंती दोनो ही विरह के आँसू बहाते थे।

चौथा सर्ग

(१)

बना पश्चिमाचल उज्ज्वल जब मरकत-मणि-सम कांति-निधान ;
भानु-भानु *-गण निज सु-वर्ण से हरता था सुवर्ण-अभिमान ।
निज शोभा से कु-मुद †-युक्त थे सभी कुमुद दे गंध महान ;
अमल कमल ‡ में कमल विकल बन थे श्रीहत, श्रीवासस्थान ।

(२)

शीतल-मंद गंधवाही ले पुष्प-गंध का सारा भार—
बहता था सब ओर बाग़ में, बन अपार सुख-पारावार ।
कुमुद देख सूर्यास्त, नीर में फूल रहे थे उसी प्रकार—
दुष्ट फूलते जैसे लखकर संत पुरुष का कष्ट अपार ।

(३)

महा मलिन थे मधुकर मन में जल-विहीन पाठान-समान ;
चक्रवाक थे वक्र-चक्र में क्षीण और बन दीन महान ।
जीव-जंतु, जलचर, कलरव + भी करते थे कल-रव-युत गान ;
मानो वे निज रव से रवि का करते थे स्तुति-सह सम्मान ।

(४)

गिरि-गंभीर गुफाओं में जो जा छिपता है दिन में नित्य—
वह तम फैला नहीं भूमि पर, डूब चुका था जब आदित्य ;
किंतु प्रकृतिदेवी ही मानो देख दिवाकर-अस्त, अशेष—
कृष्ण वेष धारण करती थी, जान शोक-सूचक वह वेष ।

---

* किरण । † हम जीवित हैं, और हमारे शत्रु सूर्य का अस्त हो रहा है, इस प्रकार का निंदित गर्व । ‡ जल । + कबूतर और सुंदर शब्द ।

(५)

रोती हुई देख माता को कृष्ण वेष में उसे निहार—
कोलाहल कर-कर पशु-पक्षी रोते थे बस ढाढ़ें मार।
थे नदीश, नद, नदी, वायु भी महा मंद करके संताप;
डूब शोक-सागर में स्थित थे तरु-लतादि भी हो चुपचाप।

(६)

निशानाथ को, प्राणनाथ को, नभ में आता हुआ निहार—
निशा नवेली हर्षित होकर करती थी सोलह श्रृंगार।
फूल बिछाती थी पति-पथ में, तारा-युक्त न था आकाश;
अथवा मोती वार रही थी आकर वह स्वामी के पास।

(७)

पूर्ण चंद्र की चारु चंद्रिका लगी छिटकने चारों ओर;
किंतु नहीं मिटने पाया था अंधकार उपवन में घोर।
ठीक ज्ञात होता था ऐसा अरुण वर्ण हिमकर उस काल—
मानो वह प्राची-नारी का था सुहाग का टीका लाल।

(८)

अथवा व्योम - क्षीर - सागर में, था जो तारक - फेनाछन्न;
पद्मनाभ *-नाभी से मानो पद्म हो गया था उत्पन्न।
या निज से सुंदर सुखदायक मन-मोहन नल-बदन विलोक—
होकर लाल क्रोध के मारे चंद्र कर रहा था अति शोक।

(९)

यही छिपाने वहाँ इंदु ने ताना था सित वस्त्र अनूप—
गुप्त रहे वह भेद भूमि पर, मुझसे सुंदरतर नल-रूप।
अथवा उनको लज्जित करने, बतलाने निज विभव महान—
स्वच्छ सुधा-धारा को भू पर बहा रहा था सुधा-निधान।

---

*विष्णु भगवान्।

(१०)

ऐसे सुखद समय में जाकर निज उपवन में नल नर-नाथ—
घूम रहे थे मन बहलाने, किंतु नहीं था मन वह साथ।
जो करती आकर्षित पल में दमयंती - मय - नल का ध्यान ;
ऐसी वस्तु न वहाँ कहीं थी, किंतु सभी थीं छवि-गुण-खान।

(११)

मृगपति-गति का गर्व - गंजनी थी अति सुंदर उनकी चाल ;
वृषभ - कंध - मद - मर्दन - कारक कंध-युग्म था रुचिर विशाल।
शिवा-सिंह को, शिव-नंदी को लज्जित करने को ही आप—
मृदुल चरण-कमलों को, चलकर वहाँ, दे रहे थे संताप।

(१२)

अथवा विधि से यह कहने को गए बाग़ में थे नल भूप—
"हे चतुरानन ! तूने मुझको इन जीवों में किया अनूप।
पर ये तो हैं सभी सुखी निज प्राण-प्रिया को लेकर साथ ;
मैंने ही क्या किया, मुझे जो एकाकी रखता है नाथ !

(१३)

"पंख-युग्म से युक्त क्यों नहीं किया मुझे स्वच्छंद विहंग ;
जिससे संग प्रिया के रहकर इस वियोग का करता भंग।
अथवा मुझको किया क्यों नहीं अंगराग या गंध अपंग* ;
छू लेता मैं जिससे उसका कभी-कभी तो कोमल अंग।

(१४)

"सुर-नर-किन्नर-गंधर्वों में है उसका - सा नहीं स्वरूप ;
है, न हुआ, क्या हो सकता है ऐसा मोहन कहीं स्वरूप।
मैं तो उसके हाथ बिक चुका, और यही मुझको विश्वास ;
प्राण-प्रिया वह मेरी ही है, और उसी का हूँ मैं दास।

* दूर-दूर फैलनेवाली।

(१५)

"चारु चंद्रिका से करता है जैसे वर चकोर अनुराग;
निज मंजुल मस्तक-मणि को है खूब चाहता जैसे नाग।
इससे भी मैं अधिक चाहता दमयंती को जो गुण-गेह;
है वह मेरा प्राण, अतः अब मृतप्राय ही है यह देह।

(१६)

"सूक्ष्म शरीर वही है, मैं तो हे निर्दय ! हूँ स्थूल शरीर;
दीन मीन हूँ, है वह मेरा जीवन-दाता निर्मल नीर।
मेरे मन-मानस की उसको मंजु मराली ही तू जान;
विधि ! बतला उसकी दर्शन-विधि शरणागत अब मुझको मान।"

(१७)

पहुँच गए यों कहते-कहते वे फिर एक तड़ाग-समीप;
जो था मानो उपवन-गृह का शोभा-वर्धक सुंदर दीप।
तट तो उसके बहिर्भाग थे, नीर तैल था अमल महान;
कनक-कलश-सह सलिल सद्म थी शिखा, ध्वजा थी धूम-समान।

(१८)

ऐसे इस नीराशय में थीं रंग-रंग की मीन अदीन;
जाति-जाति के पशु-पक्षी भी रम्य तटों पर थे आसीन।
इनमें से कुछ बोल रहे थे, करते थे कुछ कलित कलोल;
लोल हो रहे थे कुछ सर में दर्शक मन लेने को मोल।

(१९)

रक्त, नील, सित, कमल कमल में लगते थे ऐसे अभिराम—
मानो विधि-हरि-हर ही स्थित थे सर में होकर पद्म ललाम।
मधुकर मंजु मधुर गुंजित थे ले उनसे मकरंद अनूप;
मानो उनकी स्तुति करते थे भक्तजनों के वे अनुरूप।

(२०)

सारे सर - तीरस्थ व्योमचर देव - वृंद थे मानो स्पष्ट ;
जो करते थे उनसे विनती नल की चिंता करने नष्ट।
जैसे-जैसे वे उस सर के अति समीप होते थे प्राप्त—
वैसे-वैसे वे अपने को सौख्य - शांति से पाते व्याप्त।

(२१)

हरी दूब पर यों लगते थे पड़े हुए जल-कण सर्वत्र—
हरित - मंजु - मखमल पर मानो थे मंजुल मोती एकत्र।
कहीं-कहीं पर थे गुलाब के फूल रहे अति सुंदर फूल ;
जिनका झूला बना-बनाकर अलि-कुल खूब रहा था झूल।

(२२)

कहीं सघन-घन-तरुओं पर थे सुजन-सुमन-सम सुमन पवित्र ;
हरित मंजु अणि-गण पर मानो हीरावलि थी जटित विचित्र।
जहाँ सरोवर-तट पर कुंजें बनी हुई थीं अति अनमोल ;
और जहाँ पर कई तरह के करते थे वन-विहग कलोल।

(२३)

वहाँ पहुँचकर नल राजा ने राजहंस देखे दश-चार ;
उड़े त्रयोदश उनमें से, पर एक रह गया उन्हें निहार।
ये न हंस थे, पर भैमी के थे अति उज्ज्वल कीर्ति-मराल ;
जो जाते थे यश फैलाने सारे लोकों में उस काल।

(२४)

एक रह गया भूमि-भुवन पर, सुयश हो गया यों विस्तीर्ण ;
बचे हुओं को और कर दिया शेष मरालों ने व्याकीर्ण*।
फैल गई जब दमयंती के सारे श्रेष्ठ गुणों की बात ;
करने लगे इसी की चर्चा तब आपस में सब दिन-रात।

---

* भर दिया, व्याप्त कर दिया।

(२५)

देख हंस को लगे सोचने हो करके नल शोक-विमुक्त ;
है यह कैसा सुंदर पक्षी चारु चंचु-चरणों से युक्त ।
करके मन में घृणा, गिरा में महामुखरता-अवगुण मान—
संभव है, यह निज वियोग से उसे दे रहा दुःख* महान ।

(२६)

मुझे ज्ञात होता है ऐसा हृदयांकित कर इसका चित्र ;
दत्तचित्त हो विधि ने की है इसकी सृष्टि महान विचित्र ।
माणिक† बना-बनाकर पहले साफ़ किया है अपना हाथ ;
फिर उसको माँजा है कोमल लाल कमल-रचना के साथ ।

(२७)

इसके पीछे किया गया है खेचर-चरण-चंचु-निर्माण ;
जो ऐसा होता न, नहीं ये हो सकते थे यों छविमान ।
मैं इसको अवश्य पकड़ूँगा, अद्वितीय इसका लावण्य ;
ऐसी रचना करनेवाला दक्ष विधाता भी है धन्य ।

(२८)

अल्पकाल के पीछे नल के हाथ आ गया जब वह हंस ;
तब उसने यह कहा देखकर अति समीप अपना विध्वंस—
"मुझ निर्दोषी नभ-चर का वध उचित नहीं तुमको नर-नाथ !
जीव-दान जो दोगे, तो मैं तुच्छ तुम्हारा दूँगा साथ ।

(२९)

"मुझे मारने से क्या होगा, हूँ मैं क्योंकि अभक्ष्य पदार्थ ;
जो मारा भी, तो इस तनु से पूरा हो न आपका स्वार्थ ।

---

* हिंदी में दुःख और दुख दोनो का ही प्रयोग होता है । † राजहंसास्तुते चन्चुचरणैर्लोहितैः सिताः । इत्यमरः । राजहंसों के पैर और चोंच लाल और देह-वर्ण श्वेत होता है ।

राजन् ! मैं छोटा-सा पक्षी, बड़ा आपका है परिवार ;
क्षुधा शांत होगी न किसी की व्यर्थ जानिए यह व्यापार ।

(३०)

"नगर-नारि-नर-नाशक हरि भी मैं हूँ नहीं रूप-गुण-धाम !
मेरे वध से नाम न होगा, किंतु आप होंगे बदनाम ।
यही नहीं, कुछ और मिलेगा आज आपको इसके साथ ;
महापाप के भागी भी तो होना तुम्हें पड़ेगा नाथ !

(३१)

"माता-पिता नहीं हैं मेरे, हैं दो बच्चे, रमणी एक ;
जिसके तनु में हाय ! उठ रहे कई दिनों से रोग अनेक ।
करता हूँ मैं ही शिशु-पालन और रोगिणी का भी काम ;
मैं ही जानूँ मेरे जी पर क्या-क्या बीत रही है राम !

(३२)

"सुख के स्वप्न देखते रहते, छूता तुम्हें न दुःख-समीर ;
जिसके पाँव न फटी बिवाई, क्या जाने वह पर की पीर ।
कमल-कंद-औषध लेने को मैं आया हूँ यहाँ नृपाल !
शिशुओं के हित और मधुरतम कोमल शैवालों का जाल ।

(३३)

"जो तुम मुझे मार डालोगे, तो होंगे वे भी मृत आज ;
ऐसी हत्या-हेतु कहेगा क्या-क्या तुमको नहीं समाज ?
पाँच दिवस का भूखा-प्यासा और कुटुंब-शोक से युक्त—
ऐसे मुझको सता रहे हो, क्यों न आप करते हो मुक्त ?

(३४)

"मुझे छोड़ दो, तुमको देगी हंसी शिशुओं-सहित असीस ;
जिससे आप शीघ्र ही होंगे पूर्ण-मनोरथ हे अवनीश !

वाह-वाह लो, क्यों लेते हो मृतक-तुल्य जीवों की आह ;
लोहे को जो खाक बना दे, लो, हे कोविद ! सीधी राह ।

(३५)

"क्या गृहस्थ-जीवन को समझो अविवाहित हो करके आप ;
और नारि - शिशु - दुःख पुरुष को देता है कैसा संताप ।
सदा अहिंसा को बतलाते निगमागम भी उत्तम धर्म ;
उसे क्यों न पालन करते हो, क्यों न छोड़ते आप कुकर्म ?

(३६)

"एक दिवस मुझको मरना है, इसका मुझे न कुछ भी शोक ;
किंतु दशा उनकी क्या होगी, तुम्हें कहेगा क्या यह लोक ।
हैं ये दो चिंताएँ मन में, और नहीं कुछ मुझे विचार ;
चार* भेज दिखला लो मेरा है विदर्भ में सब परिवार ।"

(३७)

पक्षी-मुख से मनुज-वचन सुन और विदर्भ-देश का नाम ;
नल ने कहा— 'यहाँ आने का हेतु मुझे बतला गुण-धाम !"
वह बोला—"भैमी-उपवन में रहता था पहले यह दास ;
मुझे वहाँ कुछ भी न कमी थी, थी सुख-सामग्री भी पास ।

(३८)

"किंतु एक दिन मदन-मोहिनी दमयंती की सुगति निहार—
मैं महान लज्जित हो करके शीघ्र हो गया चिंताऽऽगार ।
मेरे साथी और हंस भी चलना-फिरना सब कुछ भूल ;
अपने गति के मद को खोकर आज आ गए हैं इस कूल ।"

(३९)

सुन ऐसा यश-वर्णन मोहित और हो गए नल भूपाल ;
बहुत कठिन है कहना उनके दमयंतीमय मन का हाल ।

---

* दूत, हलकारा ।

लगे आप मन-ही-मन कहने—"कौन भला ऐसा नर-नाथ—
दोष-हीन वह महा अनूठा रत्न लगेगा जिसके हाथ ?

(४०)

"निर्मित किया गया है वर भी रूपवान उसके अनुरूप ;
वह गंधर्व, देव है किन्नर, या कोई बड़भागी भूप।
सदा युग्म ही सबके करता नहीं विधाता रचता एक ;
एक-एक है एक वही, जो कभी एक है, कभी अनेक।

(४१)

"वह उसमें, इसमें, मुझमें भी है जब सबमें एक पदार्थ ;
तो फिर उसके लिये उसी का क्यों न सिद्ध हो उससे स्वार्थ।
यहाँ उचित है मुझे इस समय राजहंस को करना दूत ;
क्योंकि विहग करते आए हैं पटुता-युक्त श्रेष्ठ करतूत।

(४२)

"स्वयं त्रिलोकीनाथ विष्णु भी खग को ही रखते हैं पास ;
विधि मराल पर, पशुपति शिव तो पशु पर भी करते विश्वास।
इससे सिद्ध हो गया है यह, नर, पशु, खग सब ही गुणवान ;
रूप-भेद है केवल, सबमें वही एक है एक समान।"

(४३)

यों विचार बोले—"तूने यह कहा मुझे था 'हे नरनाथ !
जीव-दान जो दोगे, तो मैं तुच्छ तुम्हारा दूँगा साथ।'
इसी वचन को पूरा कर तू, है मैत्री ही मेरा प्राण।
प्राण-प्राण तेरा-मेरा भी इसी कार्य पर निर्भर जान।"

(४४)

"क्यों इसकी चिंता करते हो, है जब इसका मुझ पर भार ?
यावज्जीवन क्या भूलूँगा किया आपने जो उपकार।

छोटे मुख से बड़ी बात है खग कहता यों कहिए नाथ !
पर मैं कभी दिखा दूँगा इस कोमल कर में मोहन हाथ।

(४५)

"तजो मुझे अब, पंख करेंगे कठिन*करों को और कठोर ;
ये न प्रथम ही भैमी-कर-सम और आप फिर करते घोर† ।
कहाँ आपके कर कठोर ये कहाँ कमल-मद-हर वे हाथ !!
हँसी न जानो मानो स्वामिन् ! इनका-उनका कभी न साथ ।

(४६)

"होकर के विधु-वदन आप यों गर्व कर रहे हैं क्यों आज ?
दमयंती के मुख-समान भी नहीं हो सके यह द्विजराज ।
क्योंकि सदा खिलते रहते हैं कुमुद वदन का देख प्रकाश ;
करते हैं वे भीम-विपिन में कभी न चंद्रोदय की आस ।

(४७)

"छिप-छिप करके निजाराम में फिरती है वह चारो ओर ;
क्योंकि उसे व्याकुल करते हैं सम्मुख आकर सभी चकोर ।
श्री ने हरि-समीप ही रहना आज कर लिया है स्वीकार ;
क्योंकि भीम-तनयानन-द्युति से बंद हो गए पद्मागार ।

(४८)

"देख मनोहर केशावलि को, है जो अलि-कुल से भी श्याम ;
और कपोलों पर जो देती लटक-लटककर कांति ललाम ।
आते हैं अहि-भूषण शिव को छोड़-छोड़कर नाग महान ;
काली नागिन उसे मानकर और प्रिया‡ से बढ़कर जान ।

---

* हंस नल से हँसी करता है । † और भी कठिन अर्थात् आपके हाथ पहले ही से दमयंती के कर-कमलों के समान कोमल नहीं हैं, और आप अब मेरे पंखों को पकडकर उन्हें और भी कठोर बना रहे हो । ‡ अपनी सर्पिणी ।

(४६)

"किंतु सुंदरी दमयंती के शोभामृत का करके पान—
उनको गिरिजा का भ्रम होता इससे वे करते प्रस्थान।
जाते हुए यही कहते वे—'तज करके तप को भूतेश—
उमा-कपोलों पर लख हमको क्रोधित होंगे उग्र महेश।'

(५०)

"उसकी विद्या-बुद्धि देखकर वाणी करती शोक महान,
क्योंकि विधाता बुला रहे हैं उसको अपनी तनया मान।
किंतु जानकर है ब्रह्मा ने किया गिरा पर अत्याचार;
है उसने इस पदवी को भी आज कर दिया अस्वीकार।

(५१)

"अधिक क्या कहूँ, है वह मानो परमा शोभा ललना-रूप;
लालायित क्यों हुए आपको कहते पुरुष जितेंद्रिय भूप।
मत अधीर हो, धीर-वीर बन होते हो क्यों विकल नितांत?
सत्य जानिए हो जावेगा ताप आपका अब यह शांत॥"

(५२)

सुनकर प्यारी बातें नल ने करके प्राप्त महा आनंद—
छोड़ दिया फिर उस पक्षी को था जो सारे सुख का कंद।
पूर्णतया जब जान गए वे नष्ट हो गया है संताप—
उनके शुद्ध हृदय से निकली तब यह वाणी अपने आप!

(५३)

"हे मंजुल! मुक्ताफल-भोक्ता! हे विहगेश्वर! बुद्धि-निधान!
चिंता-दुःख-चिता-निर्माता! हे सुखदाता! मेरे प्राण!
ऋणी बनाना ऐसा जिससे उऋण हो सकूँ कभी न मित्र!
खिंचा रहेगा मानस-पट पर यह सुहावना तेरा चित्र।

(५४)

"पर प्रियतम ! ऐसा मत करना, देखा करूँ सदा ही बाट—
तुझे ढूँढ़ता फिरूँ सरों में बाट-घाट पर पाऊँ नाट * ।
ऐसा भी मत करना जिससे होवे सारा मटियामेट ;
तू भी नहीं दिखाई देवे, मैं रह जाऊँ पकड़े पेट ।"

(५५)

करुणा-भरे वचन सुन नल के कहा हंस ने—"हे सुकुमार !
दमयंती का या प्रभु का घर, मेरे तो दो ही घर-बार ।
नहीं तीसरा मेरे कोई, फिर क्यों चिंता करो नृपाल !
आया मैं शुभ-समाचार ले", यों कह हंस उड़ा तत्काल ।

(५६)

उसको गया देख फिर आए निजागार में भूप बलात ;
पर न चैन था, उन्हें वहाँ बस लगन लगी रहती दिन-रात ।
इधर † हाल था यही, उधर वह हंस कई दिन के पश्चात—
पहुँचा दमयंती - उपवन में पूरी करने अपनी बात ।

(५७)

वहाँ ‡ देखकर पहले से भी अधिक परम शोभा-विस्तार—
करने लगा प्रकट मन-ही-मन वह सगर्व निज श्रेष्ठ विचार—
"जन्मभूमि ! मैं तुझे देखकर क्यों न करूँ अब गर्व महान ?
वे हैं मूढ़, नहीं रखते हैं, जो तेरा कुछ भी अभिमान ।

(५८)

"तेरे सदृश नहीं है कोई, सभी सृष्टि में वस्तु विचित्र ;
है तू स्वर्गलोक से बढ़कर विष्णुलोक से और पवित्र ।

---

* नहीं । † नल के यहाँ । उधर, दमयंती की ओर । ‡ कुंडिनपुर में, जहाँ वह जन्मा था ।

जो मानव वैरी से लड़ते करके सिद्ध एकता-मंत्र—
हैं वे देवों से भी उत्तम, रखते हैं जो तुझे स्वतंत्र।

(५९)

"धन्य-धन्य वे जो करते हैं जीवन देकर तेरा क्षेम;
तेरे लिये न रखते हैं जो लोग दिखाऊ मन में प्रेम।
ध्येय बना रहता है जिनका तेरे शोक-दुःख का नाश;
करते हैं वे ही जग-शासन, हैं जो तेरे सच्चे दास।

(६०)

"माता! तेरी सेवा में है यह मेरा जीवन बलिदान;
मेरी नस-नस, मेरी रग-रग करता हूँ तुझ पर कुर्बान।
तेरे पद-रक्षक होने को मेरा चर्म सदा तैयार;
तेरे अंजन-हित ये आँखें होती हैं तुझ पर बलिहार।

(६१)

"यही एक इच्छा है, जावें तेरी सेवा में ये प्राण;
तुझे अनश्वर सुख देकर ये करें यहाँ से फिर प्रस्थान।
तुझसे कभी उऋण होने में हो सकता मैं नहीं समर्थ;
क्या-क्या नहीं किया तूने तो किया सभी कुछ मेरे अर्थ।

(६२)

"प्यारी माता! बिंदु-बिंदु में भरा हुआ है तेरा अंश;
नस-नस में कितना ही जानें धरा हुआ है तेरा अंश।
तेरा ही प्रतिबिंब नाचता बोटी-बोटी में चुपचाप;
लगी हुई है बाल-बाल पर बस तेरी ही मोहर-छाप।

(६३)

"दो मुझको वरदान यही—'तू हो जा पूर्ण मनोरथ आज;
और सुंदरी दमयंती के सजें स्वयंवर के भी साज।'

रहे बात मेरी भी जग में और आपका भी हो नाम—
पुण्य भूमि के राजहंस ने कैसा कठिन किया था काम।"

(६४)

यों विचार करते-करते तब हुआ उसे अरुणोदय भान ;
छेड़ा जब सुखदायक स्वर से व्योमचरों ने अपना गान ।
अंधकार-अघ-भार-कार को मार, पछाड़ पकड़कर केश—
जय-स्यंदन में स्थित हो करके बड़ी छटा से उगे दिनेश ।

(६५)

यह सहस्रकर-कर-कर-वर का नवल-निकर था तेज-निधान ;
अथवा थी यह बाल-वह्नि की गोलाकार मूर्ति छवि-खान ।
या यह मदन-दहनकारक था मदन-दहन का नेत्र प्रधान ;
अथवा यह तिमिराऽसुर-शिर-हर विष्णु-चक्र था अति द्युतिमान ।

(६६)

पीत-रक्त-मणि-सदृश बनाया पूर्व दिशा ने अपना वेष ;
थी मानो वह खूब सज गई आता हुआ निहार निजेश ।
शंख, मृदंग, दुंदुभी-रव से गूँज उठा फिर राजद्वार ;
हुआ पणव, झर्झर बाजों से शब्दायित अति भीमागार ।

(६७)

देख भानु को बुध-विद्या-सम कमल-कांति फिर बढ़ी तुरंत ;
चौर - दुष्ट - संपत्ति - सदृश ही हुआ कुमुद - शोभा का अंत ।
वैसे ही मकरंद - पान से भृंग - वृंद के फूले अंग ;
यौवन में जैसे भरता है अंग - अंग में काम अनंग ।

(६८)

शीतल, मंद, सुगंध, सुपावन वायु लगी बहने स्वच्छंद ;
चकवे और चकवियों का भी कटने लगा विरह का फंद ।

सभी उलूक देखकर रवि को खोते थे अपना आनंद ;
नर, नारी, पशु, विहग और तरु सभी हो गए सुख के कंद ।

(६९)

हा ! भैमी का यश मुझसे भी अधिक हो गया है इस काल—
ऐसा सोच कोप के मारे सूर्य हो रहे थे कुछ लाल ।
हंसोदय * के पीछे देखा वहाँ हंस ने तिमिर महान ;
क्योंकि सूर्य उपवन के अंदर थे लज्जा से अंतर्धान ।

(७०)

ऐसे सुखद समय में सुंदर सखियों को लेकर के संग—
आती हुई देख भैमी को महा प्रफुल्लित हुआ विहंग ।
अंग - अंग में शांति छा गई, और आ गई महा उमंग ;
अंग † देखकर भैमी के जो परिवर्तित थे किए अनंग ।

(७१)

अल्पकाल पीछे खेचर के मन में पैदा हुआ विवेक :
'है यह या वह ठीक' लगा यों करने वह सुविचार अनेक ।
गया अंत में उस सर-तट पर जहाँ जा रही थी छवि-गेह ;
मानो वह शोभा जाती थी धारण करके ललना-देह ।

(७२)

जाकर वहाँ ‡ शीघ्र दमयंती करने लगी नित्य का कर्म ;
और सभी सखियाँ पटुता से लगीं पालने निज-निज धर्म ।
हो निवृत्त जब सब-की-सब वे सर से जाने लगीं निदान—
राजहंस तब आगे बढ़कर करने लगा अमल जल-पान ।

---

* सूर्योदय । † शरीर के अवयव । ‡ भीम के महल के सम्मुख जो उपवन था ।

(७३)

उसे देखकर बोली भैमी—"हे सखियो ! हो शीघ्र सचेष्ट;
दौड़ो इस पक्षी के पीछे, इसे पकड़ना आज समेष्ट *।"
ऐसी आज्ञा सुनकर वे सब चलीं पकड़ने उसके साथ;
किंतु शीघ्र वे सभी थक गईं, आया वह न किसी के हाथ।

(७४)

महाश्रांत, सुंदर सखियों को हंस ले गया दूर महान;
और जहाँ दमयंती थी भर वहाँ आ गया एक उड़ान।
उसे पकड़ना चाहा उसने देख विहग को अपने पास;
किंतु एक छोटे तरु पर वह जा बैठा कर अल्प प्रयास।

(७५)

खग ने कहा—"विफल है फिरना आज आपका मेरे साथ;
मुझे पकड़ने से क्या होगा, ग्रहण कीजिए नल का हाथ।
धरणी-मंडल पर बर वे ही एक आपके हैं अनुकूल;
और किसी को वरण करोगी, तो होगी यह भारी भूल।

(७६)

"सोने में सुगंध हो जावे, है यह मणि - कांचन - संयोग;
गिरा - गिरागुरु † यही कहेंगे—'दमयंती नल राजा - जोग।'
श्रीरूपा हैं आप, उन्हें सब कहते हैं नारायण - रूप;
होगा युग श्री-श्रीपति का ही और भूप गिर जावें कूप।

(७७)

"सदा भ्रमण करता रहता हूँ देश - देश में, दूर-सुदूर;
सब धरणी के राजाओं को देखा है मैंने भरपूर।
पर न मिला है वैसा कोई, क्या मैं उनका करूँ बखान?
नल की पासँग के न बराबर कहूँ उन्हें मैं सह अभिमान।

---

* मेरा इष्ट, अर्थात् जिसे मैं चाहती हूँ। † (गिरा) सरस्वती (गुरु) = ब्रह्मा।

(७८)

"कभी दृष्टि-गत हो न सकेंगे ऐसे नृप क्षत्रिय - कुल - दीप ;
हैं सारे सेवक-से लगते उनके सम्मुख और महीप।
सदा आप दोनो की जोड़ी ऐसी भली भला हो ज्ञात ;
चारु चंद्र के साथ चंद्रिका रहती है जैसे दिन-रात।

(७९)

"सभी जगत की सुंदरता का खींच-खींचकर सारा सार—
चतुरानन ने रचा आपको उठा महीनों तक श्रम-भार।
ले रूपांश त्रिलोकी का फिर कर्म-व्यस्त रहकर दिन-रात—
सिरजा एक मनोहर नृप को, हैं जो नल भू पर विख्यात।

(८०)

"नल सानंद सदा रहते थे, हँसते हुए अतीव प्रसन्न ;
किंतु आपकी चिंता से अब बहुत हो गए हैं अवसन्न।
सुध-बुध सारी भूल गए वे होकर प्रिया-विरह-दुख-धाम ;
दमयंती इस नामधेय की जपते हैं माला अविराम।

(८१)

"नेत्र और कानों में उनके युद्ध हो रहा है घमसान ;
ये * कहते कुछ और बात ही, वे † करते कुछ और बखान।
दो तो यह कहते—'भैमी के गुण-वर्णन से हैं हम तुष्ट' ;
और शेष दो यही बोलते—'दर्शन बिना न हैं हम पुष्ट।'

(८२)

"इन चारो के महायुद्ध में हृदय हो रहा है बेहाल ;
वह सबको समझाता रहता कह-कहकर उनसे निज हाल।
'तुम सुनकर के तृप्त हो गए, होगे तुम देखे सुख-युक्त ;
मैं कैसे संतुष्ट बनूँगा, महाकष्ट से होकर मुक्त ?

---

* नेत्र। † कान।

(८३)

" 'मिलकर निज जातीय युग्म से नयनो ! तुम पाओगे हर्ष ;
बातें भी कर मूक परस्पर मन में भी भर लोगे हर्ष।
जब मेरा जातीय न होगा मुझसे मिलने को तैयार—
तब फिर हाय ! ढूँढ़ना होगा शीघ्र मृत्यु का मुझको द्वार।'

(८४)

"इस प्रकार की बाधाओं से चिंतित हैं नल आज महान ;
न्यौछावर कर दिए आप पर उनने निज तन-मन, धन-प्राण।
इसका क्या उत्तर दूँ उनको, कहो आप अब सोच, विचार ;
स्वीकृत है कि नहीं बनना अब उनके कांत कंठ का हार ?"

(८५)

प्यारी हंस-गिरा को सुन जब हंसगामिनी हुई अधीर,
रोम-रोम तब लगा बताने होकर खड़ा विरह की पीर।
मदन-दहन के पीछे मानो करती थी जब प्रिया * विलाप,
तब गिरिजा को लगा सताने गिरिजापति-वियोग † का ताप।

(८६)

पुष्प - वाटिका में था करने श्रीरघुवर - दर्शन सुखकार—
कनक-कांति - धर जनक - कुमारी तड़फ रही थी बारंबार।
अथवा पूर्ण चंद्र - सम सुंदर कृष्णचंद्र का तजकर संग—
बाधा - हर राधा करती थी वन में रहकर आधा अंग।

(८७)

इस प्रकार विरहाकुल होकर बोली वह शोभा की खान ;
मानो सुधा - सिता - मधु - धारा वन में बहने लगी महान।
"जो कुछ तूने कहा, उसे तो मैंने लिया प्रथम ही जान ;
कहना तू वैसे ही जैसे कहती हूँ मैं सुन, दे ध्यान।

* रति, कामदेव की स्त्री। † शिव के अंतर्धान होने पर।

(८८)

"मैं वियोगिनी हूँ अभागिनी, नहीं निकलते मेरे प्राण;
दर्शन दो आकर अब मुझको हे प्रियतम! बन दया-निधान।
प्रिय - मुख - चंद्र देखने को ही तड़फ रहे हैं नेत्र-चकोर;
मेरा हृदय मत्तगज - जैसे फिरता रहता है सब ओर।

(८९)

"खग के आने के पहले ही नाथ हो चुके मेरे आप;
क्यों फिर देर लगाते हो निज दर्शन देने में निष्पाप!
मैं अब इससे अधिक क्या कहूँ, स्वयं दक्ष हो प्राणाधार!
मैं पलटूँगी कभी नहीं अब, भले पलट जावे संसार।

(९०)

"हो सकती है पृथक् चंद्र से चारु चंद्रिका हे प्राणेश!
सदा प्रफुल्लित रह सकती है कलित कमलिनी विना दिनेश।
जी सकती है मीन विना जल, पिक वसंत में विना रसाल;
चकवी चकवे विना हर्ष से खो सकती है दिवस विशाल।

(९१)

"भ्रमरी विना पद्म को देखे ले सकती है दिन-भर श्वास;
और कुमुदिनी खिल सकती है कुमुदिनि-पति के विना प्रकाश;
किंतु भीमजा रह सकती है नल के विना नहीं निष्पाप!
ऐसा दृढ़ निश्चय कर मुझको शीघ्र दीजिए दर्शन आप।

(९२)

"अगर आप भी करलेवें जो अपनी पत्नी और सुजान!
तो भी आप रहोगे मेरे प्राणनाथ प्राणों के प्राण।
अब चाहे कुछ ही हो, मैं तो वरण कर चुकी हूँ पति एक;
कभी न तोड़ूँगी इस प्रण को, कभी न छोड़ूँगी यह टेक।

(९३)

"वर होने की उत्कट इच्छा करें प्रकट जो हरि भी आज—
और मुझे वे दे भी देवें इन सारे लोकों का राज—
तो भी मैं उनको न वरूँगी, केवल यही करूँगी काम—
मर जाऊँगी, प्रण न तजूँगी, तुम्हें भजूँगी आठो याम।

(९४)

"मैं तो अब कह चुकी यही तू राजहंस कह देना बात;
अन्य भूप को मैं न वरूँगी राज़ी से क्या, नहीं बलात।"
इतना सुनकर हंस उड़ गया, नल की आई उसको याद;
वहाँ शीघ्र पहुँचा फिर लेकर हर्ष-भरा यह शुभ संवाद।

(९५)

आदि-अंत तक सुनकर उसको इस प्रकार वे हुए प्रसन्न;
जैसे उनमें परब्रह्म का ज्ञान हो गया हो उत्पन्न।
वे मराल को मंजुल मोती चुगा-चुगाकर करते प्यार;
कहते उससे—"मुझ डूबे का हुआ एक तू ही आधार।"

(९६)

राजहंस को गया देखकर भैमी करने लगी विचार;
हरि-इच्छा होगी, तो मेरा हो जावेगा बेड़ा पार।
नल-दर्शन कब मुझे मिलेंगे, यही लगन रहती दिन-रात;
सखियों को भी ज्ञात हो गई उसके गुप्त प्रेम की बात।

(९७)

भैमि-स्वयंवर-हेतु हुई जो विविध बनावट—
भीम-नगर के बीच स्वच्छता और सजावट।
यही लक्ष्य है एक ठीक उसको दिखलाना;
बतलाना है और वहाँ फिर नल का आना।

पाँचवाँ सर्ग

(१)

नल के लिये जब भीमजा थी पूर्ण विह्वल हो गई,
 उस विरह-विधुरा की दशा जब और व्याकुल हो गई,
तब सहचरी-समुदाय को चिंता महा होने लगी,
 जो शीघ्र उनके धैर्य को भी चित्त से खोने लगी।

(२)

वे पूछतीं उससे सभी—"क्या हो गया तुझको बता?
 ऐसे छिपाकर बात को तू क्यों रही हमको सता?
है कष्ट ऐसा कौन-सा जो नष्ट हमसे हो नहीं?
 मिट जायगा क्या क्लेश तेरा यों छिपाने से कहीं?

(३)

"वह कोकनद-मदहारिणी क्यों उड़ गई मुख-लालिमा?
 क्यों नील नीरज-लोचनों की छा गई यह कालिमा?
क्यों आज नीरस दल-सदृश मुख-रंग पीला पड़ गया?
 क्यों चंद्रिका से हीन है वह चंद्रमा होकर नया?

(४)

"क्यों अन्न-जल को छोड़ने की बात तुझको भा रही?
 क्यों चारु चंचल चित्त पर है यों उदासी छा रही?
क्यों है सुदुर्बल देह में आलस्य-देवी आ रही?
 यह रात-दिन रसना बता गुण-गान किसका गा रही?

(५)

"हा ! पुष्प-सी निज देह को तू तुल्य कंटक के बना—
परिचारिकाओं को भला क्यों दुःख देती है बना ?
क्या बात ऐसी हो गई, क्यों बुद्धि तेरी खो गई ?
क्या बीज चिंता का हृदय में दुष्ट भावी बो गई ?

(६)

"है आज तू तन-तेज को क्यों पीत मणि-सम कर रही ?
अनमोल गोल कपोल-युग की क्यों गुलाबी हर रही ?
ओहो ! कनक-कंकण करों में हैं कहाँ तक बढ़ गए—
आते कलाई पर कसे वे बाहुओं तक चढ़ गए !

(७)

"कटि की दशा भी देख तू, जो अब न मुट्ठी-भर रही ;
आश्चर्य है, कुच-भार का यह सहन कैसे कर रही !
आधार * इसका जो महा दृढ़, पुष्ट, गुरु होता नहीं,
तो इंद्र-करि-कर-युग्म † तेरा काँप उठता हर कहीं।"

(८)

ये वचन सुन कहती उन्हें वह—"मन न मेरे हाथ है ;
उसको उड़ाकर ले गया वह हंस अपने साथ है।
सखियो ! कहो तुम, किस तरह मैं धैर्य अब धारण करूँ ?
विधि कौन-सी है, कष्ट को मैं शीघ्र ही जिससे हरूँ ?

(९)

"चित-चौर रहकर दूर देता दुःख क्यों भरपूर है ?
अपने सदृश विधि ने उसे भी क्यों बनाया क्रूर है ?
हा ! क्या करूँ, किससे कहूँ, कैसे रहूँ, क्या-क्या सहूँ ?
प्रिय के विरह के सिंधु में मैं इस तरह कब तक बहूँ ?

---

* जंघाएँ । † ऐरावत की सूँड़ का जोड़ा अर्थात् जंघाएँ ।

(१०)

"आता न मुझको तैरना, यह छा रहा तम-भार है,
नौका नहीं, नाविक नहीं, कर में नहीं पतवार है।
बैठा हुआ उस पार वह *, मैं बह रही मझधार में।
बस डूबना ही शेष है अब विरह-सिंधु अपार में।

(११)

"सखियो! तनिक साहस करो, कुछ तो बढ़ाओ हाथ को;
आओ, बचाओ अब मुझे, छोड़ो न मेरे साथ को।
मैं बुद्धि-हीना हो गई हूँ, हो गई दीना महा;
जीना उसी का व्यर्थ है, जो ज्ञान से चीणा महा।

(१२)

"सखियो! कलंकी चंद्र को किसने सुधाकर है कहा?
यह ज्ञात होता है मुझे तो अग्नि का गोला महा।
जो अंशुएँ इसकी कुमुद को समुद हैं हर्षा रहीं—
वे अग्नि के अंगार मुझ पर आज क्यों वर्षा रहीं?

(१३)

"है चंद्रिका इसकी न छवि, यह जाल है, जंजाल है;
जो विरह-विधुरा नारियों को कर रहा बेहाल है।
है नाग-पाश विचित्र यह या गरल-सिंचित वस्त्र है;
या अस्त्र है पंचत्व का, या पंचशर का शस्त्र है।

(१४)

"हो इंद्रियों ने शिथिल जब शीतांशु इसको कर दिया—
तो फिर तरुणता प्राप्त करने काम यह इसने किया।
शिव-भाल से नीचे उतर, भर लोचनों में लालिमा—
यह खा गया स्मर-भस्म को है यह उसी की कालिमा।

---

* मेरा इष्टदेव नल।

(१५)

"स्वामी-विरह-पीड़ित स्त्रियों को सिंधु-जल-सम खींच के,
उनको सुधा के निज करों से यह विना ही सींच के।
निज पेट में रख दग्ध करता है उन्हें अति क्रूर हो,
यह धूम उनकी उड़ रही मत कालिमा इसको कहो।

(१६)

"या शेष जीवित नारियों ने विनय शिव से की यही—
'हे नाथ! है स्त्री-जाति विधु से कष्ट क्या-क्या सह रही?'
उनने इसे रख भाल पर जो विष पिलाया है तभी;
है यह उसी की कृष्णता जो दीखती इसमें अभी।

(१७)

"अथवा कलंकी चंद्र में जो पाप और कलंक है—
उससे कलंकित हो रहा इस बंक सुर * का अंक है।
या स्नान करके रोहिणी पति-अंक में स्थित हो रही—
फैला कचों को और उनकी आर्द्रता है खो रही।

(१८)

"जो चारु चंदन-पंक तुमने अंग पर मेरे मला—
हिम-कर-करों से हो गया है उष्णतम वह भी भला।
इनने † किया तन-निकटवर्ती नीरजों का अंत है—
यह चंद्रमा क्यों सूर्य से भी ताप-कर अत्यंत है?

(१९)

"सखियो! न काम-ज्वर मिटा है कमल-मृदु दल-सेज में;
कर्पूर - लेपन से कमी आई न इसके तेज में।

---

* कुटिल देव। † चंद्र-किरणों ने।

जो मिष्ट, शीतल, पुष्प-रस मुझको पिलाया है अभी,
इसने घटज होकर उसे भी कर लिया स्वाहा सभी।

(२०)

"दोषी बतातीं तुम मुझे, पर दोष यह मेरा नहीं।
क्या जानकर भी देह को जन दुःख देता है कहीं?
मैं स्वामि - दर्शन के लिये ही शोक करतो हूँ महा,
है इसलिये अति पीत, दुर्बल अंग मेरा हो रहा।

(२१)

"चिंता चिता से भी बड़ी यह बात है सच्ची सदा;
वह मृत जलाती, किंतु यह है जीवितों को आपदा।
संसार में है मार्ग होता बहुत बाँका प्रेम का;
जो मुक्ति का भी द्वार है, आगार है जो क्षेम का।"

(२२)

वह यों कहा करती रुदनकर श्रेष्ठ सखियों को सभी;
मुक्ताफलों की लोचनों से वृष्टि भी करती कभी।
जल-विंदु-युत अंभोज-सम था वदन उसका सोहता—
होकर मनोहर और दुर्बल मदन - मन था मोहता।

(२३)

नैषध-विरह में आँसुओं को डाल वह यों सोहती—
स्त्री - रूप - धारी कांति मानो रुदनकर मन मोहती।
दो शुक्तियों ने प्रकट की थीं मोतियों की या लड़ी;
मकरंद की थीं विंदुएँ या युगल पद्मों से पड़ी।

(२४)

उस मुख-सुधाकर से सुधा की विंदुएँ गिरकर बड़ी—
कुछ आ कुचों पर बिखर जातीं, कुछ वहाँ रहतीं पड़ी।

मानो मदन - करि - कुंभ - युग गज-मोतियों से युक्त था ;
या शिशिर * मुकुलित पद्म-युग ही ओस-कण उपभुक्त था।

(२५)

वह काठ की पुतली बनी यों सोहती एकांत में—
मानो उमा तप कर रही थी निज पिता के प्रांत में।
अथवा महामाया किसी को बद्ध करने जाल में—
नव युक्ति को थी सोचती हो विफल पहली चाल में।

(२६)

या श्रेष्ठ करुणा-रस अलौकिक रूप ललना का किए—
तप कर रहा शृंगार से था शीघ्र मिलने के लिये।
नल के विरह में भीमजा ही या विकल थी हो रही—
सुविशाल भीमागार में निज सौख्य को थी खो रही।

(२७)

पलटाव देखा जन्मदा ने निज सुता-व्यवहार में,
आमोद और प्रमोद में भी, वचन में, आचार में।
उसने कहा—"इस रोग की भी क्या चिकित्सा है कहीं ?
पर वैद्य की यह औषधों से मिट कभी सकता नहीं।

(२८)

'तो फिर यही है ठीक करना विनय ऐसी नाथ से—
हे प्रिय ! सुता को दीजिए छवि योग्य वर के साथ से।
करने नरेशों को निमंत्रित अब स्वयंवर कीजिए ;
स्वामिन् ! स्वजीवन-लाभ कन्या-दान करके लीजिए।

---

* उभरते हुए कुचों की कठिनता प्रतीत करने के लिये शिशिर-ऋतु की मुकुलित कमल-कली की उत्प्रेक्षा है। आँसू ओस-कण-समान थे।

(२९)

"यह सत्य है, गुण-गेह हो वह और कुल-यश-कारिका—
पर अंत में मन-दारिका * ही जान पड़ती दारिका।
जो शीश-मणि है कुंडली के कष्ट-भय की हारिका—
हो जायगी उसके लिये ही वह कभी मुद-मारिका।

(३०)

"है मधु फलों की राशि जिसके सामने डाली गई,
स्वादिष्ठ भोजन से सदा जो प्रेम से पाली गई,
मीठे सुनाकर वचन जो उड़ जाय ऐसी सारिका,
तो क्या स्वपालक-हेतु वह होगी नहीं सुख-हारिका?

(३१)

"आराम-तरु-छवि-वर्धिनी, अति सौख्यदा सुंदर कली—
उसके जनक को और सबको ज्ञात होती है भली।
पुष्पित † हुई, बंधन-सहित वह कंठ जब पर के पड़ी—
तो क्या पिता को वह नहीं देगी व्यथा मन में कड़ी?"

(३२)

यों सोच उसने एक दिन फिर भीम राजा से कहा—
"हे प्राणनाथ! समर्थ! मेरी प्रार्थना सुनिए अहा!
है आपकी कन्या सुयोग्या हो गई, बर के लिये—
इससे स्वयंवर - हेतु अपनी आप आज्ञा दीजिए।"

(३३)

निज-राज-महिषी-प्रार्थना को समुद उनने मान ली—
करना यही अब उचित है, इस बात को भी जान ली।
उनने पुरोहित को वहाँ पर शीघ्र ही बुलवा लिया,
जिसने मुहूर्त महान उत्तम भीम को बतला दिया।

---

* दुःख देनेवाली, विदीर्ण करनेवाली। † श्लिष्ट।

(३४)

होने लगी सुंदर सजावट प्रथम देवागार में,
द्विज-गेह में, नृप-सद्म में, फिर बाग़ में, बाज़ार में।
थे राजपथ के मार्ग भी सारे सजाए जा रहे,
जो शिल्पियों का हस्त-कौशल थे भला दिखला रहे।

(३५)

सुविशाल पुष्प - द्वार पुर में फिर किए निर्मित गए।
मन-मोहिनी छवि के सहित थे मधुर देते गंध ये।
ऋतुराज-भूषण थे कि या ये सुमन-शैल महान थे;
या ये अलौकिक कांतिवाले रम्य रत्न - निधान थे।

(३६)

अथवा सुयश ही भीमजा का रूप पुष्पों का किए—
स्थित था नृपों के हृदय में लज्जा बढ़ाने के लिये।
भैमी - स्वयंवर - स्वर्ग के या खुल रहे ये द्वार थे—
जो श्रेष्ठता, रमणीयता के हो रहे आधार थे।

(३७)

थीं धातुओं की मूर्तियाँ स्थित की गईं बाज़ार में।
कुछ भी कमी रक्खी न उनके अंग के शृंगार में।
था जीव ही उनमें नहीं, त्रुटि और थी कुछ भी नहीं।
अति दक्ष रचना में भला क्या दोष रहता है कहीं?

(३८)

थे चारु चित्रों से सभी के गेह चित्रित हो रहे,
जो दर्शकों के नेत्र के चापल्य को थे खो रहे।
वर चित्रकारों ने दिखाए भाव थे उनमें कई।
अपनी सुमति से प्रकट की थीं युक्तियाँ सबमें नई।

(३९)

राजा जनक की वाटिका का चित्र अति अभिराम था ;
जिसमें निकट सर के बना था मंजु गिरिजा-धाम था।
आकर इसी के सामने श्रीजानकी स्थित थीं कहीं ;
श्रीराम-लक्ष्मण चुन रहे थे पुष्प भी सुरभित वहीं।

(४०)

सीता-स्वयंवर का कहीं पर चित्र चित्रित हो रहा ;
आनंद-मंगल-बीज का था जो नगर में बो रहा।
श्रीराम-रावण-युद्ध की विधि शुद्ध बतलाई कहीं।
कर पर दिखा गिरि पवन-सुत की शक्ति जतलाई कहीं।

(४१)

नरसिंह के अवतार की भयदा कहीं पर सृष्टि थी ;
आगंतुकों की आप ही गिरती जहाँ पर दृष्टि थी।
ध्रुव की तपस्या का कहीं पर चित्र था सुंदर महा।
मोहन मदन का दहन भी चित्रित कहीं था हो रहा।

(४२)

श्रीकृष्ण की उस बाल-लीला के कहीं पर चित्र थे।
सुंदर कहीं पर जाह्नवी के तीर-दृश्य पवित्र थे।
था श्रेष्ठ कुंडिन-नगर यों सर्वत्र शोभित हो रहा।
सुविशाल देश विदर्भ की जो राजधानी थी महा।

(४३)

विस्तार देख अपार इसका और अतुलित संपदा—
यह ज्ञात होता था, यही है लोकगण की जन्मदा।
उत्पन्न करके यह उन्हें है हो गई अति दुर्बला।
आश्चर्य क्या, होते बड़े हैं पुत्र माता से भला।

(४४)

संसार-भर की दर्शिनी * ही वह बना दी थी गई;
उसमें बनाए थे गए सुंदर अजायब-घर कई।
थीं नाट्य-शालाएँ वहाँ सुरनाथ-मंदिर से बड़ी;
होता मनोरंजन जहाँ था दर्शकों का हर घड़ी।

(४५)

सारी तरह के खाद्य थे, थे और व्यंजन-वर जहाँ;
तैयार रहते थे सदा फल-फूल भी उत्तम वहाँ।
शीतल-सुगंधित नीर की थी न्यूनता कुछ भी नहीं।
था प्राणियों को स्वर्ग का आनंद मिलता हर कहीं।

(४६)

प्रारंभ रखती थीं स्त्रियाँ अति मंजु मंगल-गान को;
जो नष्ट करता था पिकों के कंठ के अभिमान को।
सौभाग्य-युक्ता नारियाँ ही और शुभ उपचार को—
थीं पूर्ति देती हो विभूषित और कर शृंगार को।

(४७)

पुर में स्वयंवर-भवन की थी रम्य रचना की गई;
थी और उसके पुष्प-पट-युत कोट की छवि दी गई।
था मंजु मंडप मध्य में अत्यंत शोभित हो रहा;
जिसको अभी देगी अलौकिक भीमजा शोभा महा।

(४८)

मार्तंड-आतप से बचाने एक उच्च वितान था;
जिस पर ज़री का काम था, जो रम्य रत्न-निधान था।
शोभा स्वयंवर की निरख होवें अमर लज्जित नहीं—
इस बात के ही हेतु से ताना गया था वह वहीं।

* प्रदर्शिनी, अजायबघर।

(४९)

पाकर निमंत्रण भीम का राजा वहाँ आने लगे ;
वे और निज अनुकूल ही सम्मान भी पाने लगे।
गंधर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस और सुंदर नाग भी—
नर-रूप धारणकर वहाँ पर आ गए संभ्रम * सभी।

(५०)

संवाद नारद ने यही था स्वर्ग में पहुँचा दिया ;
भैमी-गुणों का भी वहाँ पर इंद्र से वर्णन किया।
उसने कहा यम, वरुण, शुचि † से वज्र लेकर हाथ में—
"चलिए वहाँ पर आप तीनो आज मेरे साथ में।"

(५१)

पाकर निमंत्रण निषध-नायक चित्त में हर्षित हुए।
वे और सबसे अधिकतम उससे समाकर्षित हुए।
हरि से विनय करने लगे—"है ज्ञात सब कुछ आपको ;
भगवन् ! मिटाते हो तुम्हीं निज भक्त के संताप को।

(५२)

"अब दीजिए वरदान जिसमें कामना परिपूर्ण हो ;
मेरे महा शोकारि का भी शीघ्र ही अब चूर्ण हो।
भैमी बनावे वर मुझे ही नाथ ! यह वरदान दो ;
प्रभु-पद-सरोजों का सदा ही और मुझको ध्यान दो।

(५३)

"हैं आप दीनानाथ, मुझ-सा और दीन न है कहीं।
हैं दुःखहर्ता आप मुझ-सा और दुखिया है नहीं।
सुनिए प्रभो ! यह प्रार्थना, हरिए हरे ! चिंता महा।
संसार ने है आपको ही शोकहर, मोक्षद कहा।"

---

* अतिशीघ्र। † अग्निदेव।

(५४)

यों प्रार्थना कर सैन्य पति से भूप ने ऐसा कहा—
"मेरे लिये है आज का दिन मांगलिक कैसा अहा!
सेना-सहित ही मैं चलूँगा श्रेष्ठ कुंडिन को अभी।
पूरी करेंगे ईश मेरी कामनाओं को सभी।

(५५)

"मत देर कर, जा पूर्ण कर तू शीघ्र इस आदेश को;
सज आ, सजाकर ला, सजीले! सैन्य वर के वेष को।"
सुनकर सुखद आदेश को वह सैन्य में फिर चल दिया।
अचिरात ही परिपूर्ण सारे काम को उसने किया।

(५६)

नल-वाहिनी-पद-धूलि से था व्योम में तम छा गया।
रवि-भीति से मानो तिमिर नल-शरण में था आ गया।
अथवा गुफाओं में वही था शीघ्र छिपने जा रहा;
या धूम-घन-युत जल रही थी नल-वियोगाऽनल महा।

(५७)

सारी मही पर छा गया रज-अंधकार महान था;
नल-शीश पर था तन गया मानो विशाल वितान था।
"क्या यह प्रलय का काल है," ऐसा सभी कहने लगे।
जो भीरु थे, वे भीत होकर कष्ट सब सहने लगे।

(५८)

भैमी-वदन-छवि को किसी की दृष्टि लग जावे नहीं—
इस हेतु से कृत्रिम तिमिर ही छा दिया नल ने वहीं।
या वे यही थे देखते क्या नष्ट तम हो जायगा—
वह भीमजा - वदनेंदु - छवि के सामने जब आयगा।

(५९)

भय से नहीं वनचर कहीं पर दौड़ते उस काल थे।
रथ-शब्द से उड़ते न खग होकर बड़े बेहाल थे।
थे किंतु नल को देखकर वे कोप, चिंता कर रहे;
थे भावनाएँ बहुत-सी वे और मन में भर रहे।

(६०)

पशु-वृंद कहता था यही—"हे पशुपते! यह क्या किया?
गौरी-वृषभ को क्यों न तुमने संग में अपने लिया?
है वह हमारा मित्र उस पर कोप अनुचित सर्वथा;
जातीय का अपमान हमको दे रहा दुस्सह व्यथा।"

(६१)

यह विहग कहते थे—"हरे! विहगेश * की समता कभी—
यह यान कर सकता नहीं है काठ का पल-मात्र भी।
निज वर्ग को क्यों गौर करते शेष-शय्या छोड़ के?
क्यों दुःख देते हो हमें खग-नाथ * से मन मोड़के?"

(६२)

नल-दर्शनाऽमृत-पान-हित जल-जीव सब छोटे-बड़े—
नीराशयों को छोड़कर आकर तटों पर थे खड़े।
वे मानकर नल को वरुण उनसे यही थे कह रहे—
"अब तक प्रभो! हम आपके विरहाऽब्धि में थे बह रहे।"

(६३)

नर और नारी आ रहे थे दौड़ निज-निज ग्राम से—
अति शीघ्र मिलने के लिये नल-काम से, अभिराम से।
थे उस अलौकिक विभव को वे देखकर कहते यही—
"यह इंद्र से बढ़कर सवारी आज किसकी आ रही?"

---

* गरुड़।

(६४)

निषधेश निज दर्शन सभी को मार्ग में देते हुए—
अति मांगलिक आशिष द्विजों से अभिलषित लेते हुए—
अति कांत कुंडिन - नगर के प्रतिदिन निकट थे आ रहे।
वे और सारी भूमि पर मुद-वृष्टि थे वर्षा रहे।

(६५)

स्वार्थ-त्याग जगत में करके जिसने सहर्ष दिखलाया—
है उसकी ही सफला माया - मुक्ता - विमोहिनी काया।

छठा सर्ग

(१)

व्योमयान को सजा, भीमजा - मुग्ध पुरंदर ※,
बैठा करके तीन † सुरों को उसके अंदर,
नभ-पथ से जब चला, कुलिश को कर में लेकर,
कुंडिनपुर की ओर चित्त को अति मुद से भर,
तब विमान को मान कर, स्वपति, खगेश्वर दुःखहर—
नमस्कार करने उड़े फर-फर करते व्योमचर।

(२)

भैमी ही के एक विषय में बातें करते,
अपने मन मे कई भव्य भावों को भरते,
"नारद मुनि के वचन सत्य हैं", ऐसा कहते,
और प्रेम के महासिंधु में बहते-बहते,
अपने लक्ष्य-समीप अति शीघ्रतया फिर पहुँचकर—
एक सैन्य चतुरंगिणी देखी उनने भूमि पर।

(३)

जिसमें स्यंदन एक खड़ा था जन-मन-मोहन,
छिटक रही थी छटा वहाँ जिसकी अति शोभन।

※ इंद्र। सर्ग ५, छंद ५० मे नारद द्वारा दमयंती के स्वयंवर का एवं उसके अलौकिक रूप-लावण्य का वर्णन हो चुका है। इससे इंद्र उस पर महान् मुग्ध था। † अग्नि, यम और वरुण, जिनका उल्लेख उक्त छंद मे हो चुका है।

नल-वैभव को देख चित्त में चिंतित होकर,
बोला ये वर वचन, सुरों को मंद पुरंदर।
"अश्व, सारथी, रथ, रथी और सैन्य अक्षौहिणी—
है इनकी सुखकारिणी शोभा सुर-मद-हारिणी।

(४)

"लेते हैं अवतार मनुज का कई बार जो—
होते हैं साकार मिटाने भूमि-भार जो—
क्या वे ही लोकेश विष्णु यह वेष बनाकर—
करके फिर विहगेश, रमा का निरा निरादर—
सुमनसगण-मन-मोहिनी भैमी का मन मोहने—
वर बनने को जा रहे, कुंडिनपुर में सोहने।

(५)

"अथवा गौरी-नाथ छोड़कर निज गौरी को—
गौरी से भी मान, महा गौरी भैमी को—
निज नंदी का चार हयों का रूप बनाकर—
मनुज-रूप में आज जा रहे बन भैमी-वर।
या मेरा उच्चैःश्रवा चार रूप धारण किए—
जुता हुआ है भूमि पर रथ में उनके ही लिये।

(६)

"क्या जयंत* ने आज कुटिल यह चाल चली है?
कैसी इसकी मूर्ति देखिए आप भली है!"
"नहीं-नहीं प्रभु-पुत्र" कहा यम ने यह सुनकर;
"सहस्राक्ष† यह नाम आपका झूठ सरासर।

---

* इंद्र का पुत्र। पिता को अत्यंत कुरूप भी अपना पुत्र अतीव सुंदर प्रतीत होता है। † हज़ार नेत्रोंवाला।

ऐसी उनकी है कहाँ, कहो आप ही वदन-छवि ;
स्पष्ट दिखाई दे रही मुझको तो यह मदन-छवि।"

(७)

कहा अग्नि ने—"नाथ ! मनुज का तनु धारण कर—
बैठा रथ में महा रूप है मानो सुंदर।
जाता है यह कांत-कांति ललना के सम्मुख ;
भोग रही जो अभी भीम के यहाँ मोद-सुख।
स्त्री-तनु-धारिणि कांति का, पुरुष-वेष-धर रूप का—
है वैसा जोड़ा मिला, जैसा शचि-सुर-भूप का।"

(८)

"तीनो की ही बात झूठ है", बोला जलपति—
"है यह नल नृप-रत्न प्रेम से जो विह्वल अति।
इसके रहते तुम्हें भीमजा नहीं वरेगी ;
सत्य मानिए आप और को वर न करेगी।
उलटे चलिए स्वर्ग को, यहाँ दाल गलनी नहीं।
नहीं मिलेगी दूसरी रूप-राशि ऐसी कहीं।"

(९)

"स्वामिन् ! अब क्या करें, हो गई आशा निष्फल।
इसे देखकर मची हृदय में मेरे खलबल।
मुझे कर रही भस्म महा प्रेमाऽनल जल-जल ;
जाता है अब हाय ! कष्ट से मेरा पल-पल।
लाल-लाल इस अग्नि को, काले-काले काल को ;
कौन वरेगा हा ! मुझे, छवि-हत जल भूपाल को।"

(१०)

करुण वचन सुन इंद्र वरुण के, अरुण नेत्र कर—
कहने लगा—"जलेश ! हो रहे हो क्यों कायर ?

मेरे सम्मुख भला इस तरह बातें करते ;
निज को कह असहाय, हर्ष हो मेरा हरते ।
मुझ-जैसा स्वामी सदा है रक्षा-हित पास जब—
तुम अनाथ के-से वचन, कहते हो क्यों मित्र ! तब ?

(११)

"सुनिए तो, यह युक्ति मुझे सूझी है सुंदर—
नल राजा को आज दंभ से दूत बनाकर—
दमयंती के पास भेज दें यह कहलाने—
इंद्र, अग्नि, यम, वरुण खड़े हैं तुझको पाने ।
जो उनमें स श्रेष्ठ है, रूपवान, बलवान है ;
उसे बना ले स्वपति तू, जो सबसे गुणवान है ।"

(१२)

हुआ इस तरह ज्ञात युक्ति को जलपति सुनकर—
फिर से मानो प्राण आ गए शव के भीतर ।
"स्वामिन् ! चलिए शीघ्र आप नल राजा सम्मुख ;
काम कीजिए वही, मिले जिससे हमको सुख ।
इस विमान को आप अब छोड़ स्वच्छ आकाश में ;
जाकर उसको भेजिए दमयंती के पास में ।"

(१३)

देवों पर भी स्वार्थ अहो ! शासन करता है ।
वश्य चित्त का धैर्य शौर्य से यह हरता है ।
उन सबको निष्काम शास्त्र फिर क्यों कहते हैं ?
जब कि कामना-सिंधु-मध्य वे भी बहते हैं ।
उनसे तो वे नर भले, मुद से मन को मोड़कर—
जो पर-हित-रत हो गए, महा स्वार्थ को छोड़कर ।

(१४)

सुर, नर, मुनि, गंधर्व स्वार्थ में रत हैं सारे।
वे क्या, इससे स्वयं जगत्पति भी हैं हारे।
विप्र-चरण का चिह्न देखकर चपला कमला;
हो जाती है शीघ्र आप ही अचला अमला।
यह विचारकर विष्णु ने उर पर धारण कर लिया—
भृगु भूसुर-पद-चिह्न को है श्री को यों स्थिर किया।

(१५)

जो लक्ष्मी से अधिक कांति धारण करती थी;
रंभा के भी सर्व गर्व को जो हरती थी।
जिसने जप-तप घोर रुद्र-हित कभी किया था,
और पाश में उन्हें अंत में बाँध लिया था।
ऐसी गिरिजा को महा हर्षित करने के लिये—
अपने तन के भाग दो श्रीशंकर ने हैं किए।

(१६)

किंतु धन्य है ईश, धन्य नर-जाति सुहावन;
स्वार्थ-त्याग की शक्ति मिली है जिसे सुपावन।
धन्य, धन्य, अति धन्य मनुज वे ही होते हैं--
जो निज सुख को छोड़ दुःख पर का खोते हैं।
हैं जो पर-उपकार को प्रथम धर्म निज मानते;
स्वार्थ-परायण बुद्धि को कल्मष-कलुषित जानते।

(१७)

वरुण-वचन सुन इंद्र सुरों को शीघ्र साथ कर;
व्योमयान को छोड़ व्योम में उतरा भू पर।
महाविकट भट-कटक-सिंधु को अटक-अटक तिर—
नल राजा के अश्व-यान के पास गया फिर।

विहगेश्वर-स्थित हरि-निकट, अमर-निकर मानो गया—
बन विनीत, करने विनय, लेने को कुछ वर नया।

(१८)

शिव-समाधि को अचल देखकर अचल-शिखर पर—
पाणिग्रह के योग्य उमा को हुई जानकर—
अति पीड़ित सुर-निकर त्रिपुर*-कृत कष्ट मिटाने—
मानो रति-पति-निकट गया हो यह समझाने—
"समाधिस्थ शिव को अभी जाकर विचलित कीजिए;
गिरिजा पर अनुरक्त कर उनको फिर यश लीजिए।"

(१९)

कहा उन्होंने यही पास में नल के जाकर—
"नैषध! हैं हम धन्य, सामने तेरे आकर।
तू सत्यव्रत, वीर, यशस्वी, परोपकारी,
धर्म-धुरंधर, धीर और है अरि-संहारी।
दे सहायता तू हमें आज हमारा दूत बन।
हे नल! है तुझ-सा नहीं, कहीं जगत में श्रेष्ठ जन।"

(२०)

नल ने कहा सहर्ष—"आप कहिए निज परिचय?
कौन चाहता दूत मुझे, पाने को स्वविजय?
करने उसका काम दूत मैं हो सकता हूँ,
और शक्ति-अनुसार कष्ट को खो सकता हूँ।
है मुझको विश्वास यह, सभी काम को पूर्णकर—
आऊँगा मैं शीघ्र ही उसके अरि का चूर्णकर।"

---

* त्रिपुराऽसुर का संहार करवाने के लिये।

(२१)

सुन उत्तर अभिलषित इंद्र अति मुदित हो गया ;
उसका सारा शोक आप-से-आप खो गया ।
उसने ऐसा कहा—"भूप-वर ! हे करुणामय !
बड़े ध्यान के साथ हमारा सुनिए परिचय ।
जो प्रसन्न बन स्वजन को दे देते हैं श्रेष्ठ गति—
हैं हम वे ही देव-वर अग्नि, वरुण, यम, देवपति ।"

(२२)

देख सुरों को पास खड़े नल ने स्यंदन से—
उतर, नमन कर उन्हें, कहा यों निर्मल मन से—
"प्रभुओ ! मेरा भाग्य हो गया आज धन्य है ;
मुझ-जैसा अब भूप जगत में नहीं अन्य है ।
मेरी इच्छा पूर्णकर, आज्ञा मुझको दीजिए ;
यह सेवक तैयार है, जो जी चाहे कीजिए ।

(२३)

"आज आपका काम ज़रा भी जो कर लूँगा—
तो मैं सुरगण ! जन्म सफल अपना समझूँगा ।
है मेरा अधिकार कर्म करने में केवल ,
पर उसका आधीन आपके बुरा-भला फल ।
नव निधियाँ सब सिद्धियाँ देनेवाले आप हैं ;
प्रभुओ ! मेरी नाव को खेनेवाले आप हैं ।"

(२४)

कहा इंद्र ने—"भूप ! हमारा तू धावन बन—,
जा भैमी के पास और कर यही निवेदन—
इंद्र, अग्नि, यम, वरुण कर रहे इच्छा तेरी ।
हूँ मैं उनका दूत, मान तू विनती मेरी ।"

नर को वरने के लिये बढा न अपनी टेक को ;
चाहे जिसको वरण कर उनमें से तू एक को ।"

(२५)

पड़कर टेढ़े चक्कर में नल देवनाथ की सुन बातें—
कहने लगे यही मन-ही-मन "ये बातें हैं या घातें ।
ख़ूब फँसा मैं दिया गया हूँ महाजाल में सुर-गण से ;
इसी हेतु आया है यह ❀ भी, आया मैं जिस कारण से ।

(२६)

"हूँ मैं जिस पर स्वयं विमोहित उसे कहूँगा यह कैसे ?
वर लो किसी देव को भैमी ! कष्ट सहूँगा यह कैसे ?
औरों को मराल क्यों देगा मूल्यवान मुक्ता-माला ?
तृषित कभी क्या दे सकता है, पर को मृदु† रस का प्याला ?

(२७)

"नहीं मनुज ही, पर जिस पर [illegible] सुर-मुनि भी लालायित हैं ;
धन्य-धन्य उस ललना-छवि का जिससे इंद्रादिक जित हैं ।
इधर चलूँ तो प्रण रोकेगा, उधर चलूँ तो रूप बड़ा ;
इधर गिरूँ तो गहरी खाई, उधर गिरूँ तो कूप बड़ा ।

(२८)

"साँप-छछूँदर की-सी हालत आज हो गई है मेरी ।
अपरंपार ! हरे ! लीलामय ! तू जाने लीला तेरी ।
पार नहीं पाता है कोई, निज गति का तू ही पाता ।
नाथ ! इस समय हाथ न छोड़ो, हो तुम ही मेरे त्राता ।"

(२९)

यों विचारकर कहा इंद्र से नल ने मन की छिपा व्यथा ;
"एक प्रयोजन है दोनो का, एक लक्ष्य है और तथा ।

❀ देवतों का झुंड । † लक्षणा से अमृत ।

फिर उससे मैं यों कहने को हा ! कैसे प्रस्तुत हूँगा ?
और काम बतला दो मुझको, नाथ ! उसे मैं कर लूँगा।"

(३०)

"करने * उसका काम, दूत मैं हो सकता हूँ"—"ये तेरे—
कहे हुए हैं वाक्य या कि ये बतला दे तू हैं मेरे।
हैं सदैव सत्यव्रत होते क्षत्रिय, तू क्षत्रिय सच्चा—
होकर वचन-पलट क्यों होता, हो तेरी इच्छा, अच्छा।

(३१)

"प्रण तोड़ेगा जो तू, उससे मन मोड़ेगा नहीं अभी—
तो तेरा उपहास करेंगे धीर, वीर, गंभीर सभी।
हँसी उड़ेगी जब, तब जग में अपयश फैलेगा तेरा ;
है † जो अधिक मृत्यु से इससे मान भला कहना मेरा।

(३२)

"जिसने नर-उपकार किया है, उसने उत्तम फल भोगा ;
देव-कार्य से तुझे अधिक फिर क्यों कल्याण नहीं होगा ?
जा, जल्दी से समाचार ला, और यहाँ मत देर लगा ;
हे नैषध ! इस स्वार्थ-बुद्धि से तू अब मत रह हुआ ठगा।"

(३३)

ऐसी विकट समस्या की भी पूर्ति वीर कर देते हैं ;
अपने प्राणों से भी पर का महा कष्ट हर लेते हैं।
जो तज देते सभी स्वार्थ को, किंतु वचन को कभी नहीं—
ऐसे मानव-सिंह जगत में पैदा होते कहीं-कहीं।

(३४)

नल ने कहा—"पूर्ण करने को प्रण को मैं तैयार अभी ;
जा सकता है क्या कोई नर अंतःपुर में किंतु कभी ?

---

* २०वें छंद की तीसरी पंक्ति। † बदनामी।

द्वारपाल, रक्षक-जन मुझको कभी नहीं आने देंगे;
दमयंती के पास मुझे वे किस प्रकार जाने देंगे?"

(३५)

"हे प्रियतम! नल! मत कर इसकी तू कुछ भी चिंता मन में;
किंतु बना रह पक्का केवल किए हुए अपने प्रण में।
ऐसी सिद्धि तुझे देता हूँ, जिससे कोई पुरुष कहीं—
तुझको देख सकेगा पुर में तेरी इच्छा बिना नहीं।"

(३६)

देवनाथ से सिद्धि प्राप्त कर सजे सजाए रथ को छोड़—
धीर, वीर सामंतगणों से और सैन्य से मन को मोड़—
कुंडिनपुर-छवि से नेत्रों को करते-करते सफलीभूत—
भैमी-भवन-निकट जा पहुँचे नल होकर देवों के दूत।

(३७)

वहाँ खड़े रहकर मन-ही-मन करने लगे पवित्र विचार—
"क्या-क्या खेल दिखाते हो तुम जगदीश्वर! हे अपरंपार!
था वह भी दिन एक हंस को दूत बना मैंने कमलेश!
दमयंती-समीप भेजा था होने को उसका प्राणेश।

(३८)

"किंतु आज मैं स्वयं दूत बन जाता हूँ आशा तज व्यर्थ;
भैमी से सविनय कहने को देव-बधू होने के अर्थ।
जिस ललना के लिये किए हैं कई काम हे जगदाधार!
आज उसे ही हूँ मैं इच्छुक करने को पर का गल-हार।

(३९)

"होती है प्रबला हरि-इच्छा, किंतु मुझे है यह विश्वास—
आप कभी भी नहीं करेंगे मेरी आशाओं का नाश।

देवों से भी तुम्हें अधिक प्रिय सदा तुम्हारा होता भक्त ;
आप उसी को पार लगाते, जो रहता प्रभु में अनुरक्त ।

(४०)

"सभी तरह असहाय हो गया, सुनिए हे स्वामिन्! मैं आज ;
हाथ *-पाँव भी मेरे चारों काट चुका है देव-समाज ।
ऐसे इस अपंग को तुम भी कर दोगे क्या नाथ! अनाथ ?
और दया का हाथ हटाकर तज दोगे क्या इसका साथ ?

(४१)

"अधिक क्या कहूँ, घट-घट-वासी ! हे अंतर्यामी ! भगवान !
भैमी का पति देव न होवे, मैं न चाहता यह वरदान,
किंतु यही है विनय, आज हो, जो कुछ हो बस न्यायाधार ;
आप न्यायकारी हैं, सोचें, किसे अधिक उसका अधिकार ।"

(४२)

करके प्रभु से विनय सद्म में गए शीघ्र फिर नल भूपाल ;
दमयंती को लगे ढूँढने हो करके विह्वल तत्काल ।
पाया उसको अंतःपुर में सुंदर आसन पर आसीन ;
सखीजनों से मीठी-मीठी बातें करने में लवलीन ।

(४३)

दमयंती के रम्य रूप से करके वे निज नेत्र पवित्र—
भूल गए अपने को, उनकी दशा हो गई और विचित्र ।
स्तब्ध भाव से खड़े-खड़े कर, जड़े हुए-से लोचन लोल—
'बड़े धन्य ये' ऐसा कहकर लगे देखने छवि अनमोल ।

(४४)

मानो अद्भुत किसी वस्तु को वैज्ञानिक निज सूक्ष्म सुदृष्टि—
द्वारा देख रहा, या चातक स्वाति-आगमन में घन-सृष्टि ।

* क्योंकि मैं वचन-बद्ध हूँ ।

अथवा मधुलिट् ताक रहा है फुल्ल पद्मिनी की ही ओर ;
निरख रहा या पूर्ण चंद्र की चारु चंद्रिका चकित चकोर ।

(४५)

चरण, हृदय, कुच*, वदन, नयन-युग, नवल नलिन-युत नदी-समीप—
परवश होकर देख रहा या बद्ध तृषिततम पथिक महीप ।
कामजीत, सुर-हितकर शंकर अथवा होकर अंतर्धान—
इष्ट-ध्यान-मग्ना गिरिजा की निरख रहे हों कांति महान ।

(४६)

ज्ञात हो रही थी वह ऐसी बैठी हुई सखीजन-मध्य—
है वसंत-ऋतु शोभा देती शरदादिक वर-ऋतुगण-मध्य ।
भवन-गगन-मंडल में अथवा पूर्ण-कलाधर-कला-कलाप—
नष्ट कर रहा था अति मुद से कोमल † कुमुदिनि मन-संताप ।

(४७)

या मंजुलतम मणियों में थी कौस्तुभ-मणि शोभा की खान ;
या थी मंजु-मरालि-मध्य में राजहंसिनी कांति-निधान ।
थी कुसुमित कल कलिकाओं में फुल्ल पद्मिनी अथवा एक ;
मनोरमा दमयंती थी या निज सखियों के बीच अनेक ।

(४८)

नल उस मनोहारिणी छवि पर ऐसे हुए विमुग्ध महान ;
हूँ मैं कौन, मुझे क्या करना, इतना भी बस रहा न ज्ञान ।
भूल गए वे महा प्रेम में, भूल गए कहना वक्तव्य ;
नहीं जानते थे वे यह भी, है मेरा अब क्या कर्त्तव्य ।

---

* कुच को कली की उपमा दी जाती है । † सखियाँ रूपी कुमुदिनियाँ । दमयंती रूपी पूर्ण चंद्र-चंद्रिका ।

(४६)

पर मन में वे यों कहते थे—"सच्चा है सुजान तू हंस !
अक्षर-अक्षर सत्य कहा जो तूने हे स्ववंश-अवतंस !
तू ही मेरा जीवन-दाता, सफल कर दिया जन्म मदीय * ;
देता हूँ यह आशिष तुझको करें ईश दीर्घायु त्वदीय ।"

(५०)

थोड़ी देर रहे वे यों ही, किंतु अंत में कुछ-कुछ ज्ञान—
आने लगा उन्हें फिर, जिससे पैदा हुआ धर्म का ध्यान ।
थे अदृश्य अब तक, पर उनने प्रकट किया फिर अपना रूप—
उसी सिद्धि के द्वारा, जिसको उन्हें दे चुका था सुर-भूप ।

(५१)

चौंक पड़ी दमयंती पल में अपने देख अतीव समीप—
एक अपरिचित युवा पुरुष को था जो क्षत्रिय-कुल का दीप ।
लज्जा-भय से विवश हो गई वह निज कुल-वय के अनुसार ;
क्योंकि कठिन है अविचल रहना विस्मयकारक दृश्य निहार ।

(५२)

नल के महा तेज से सखियाँ सभी दब गईं थीं ऐसे—
दीप-शिखाएँ हो जाती हैं तरुण सूर्य-सम्मुख जैसे ।
थीं वे रसना-युक्त, किंतु कुछ कह न सकीं फिर भी नल से ;
खलबल क्योंकि मच गई मन में थी उनके इस हलचल से ।

(५३)

नैषध ने फिर कहा इस तरह उन्हें देख करके चुपचाप—
"मुझे देख भय-भीत भला क्यों इस प्रकार होती हैं आप ?
अनुचित अभिप्राय से सखियो ! यहाँ न मैं आया हूँ आज;
और न मेरे आने को भी जान सकेगा मनुज-समाज ।"

---

* मेरा ।

(५४)

इन शब्दों को सुनकर सबकी शीघ्र हो गई शंका दूर ;
जमा लिया लज्जा ने उन पर निज अधिकार और भरपूर।
मौन-भाव की मुद्रा मुख पर देख सखी-जन के उस काल—
स्मित-वदना दमयंती बोली सुधा-सदृश ये वचन रसाल—

(५५)

"होकर अंतर्धान यहाँ पर किस कारण से आए आप ?
कन्या के समीप में ऐसे आ जाना कहलाता पाप।
मेरे पिता उग्र शासक हैं, और वीरता के हैं कंद ;
आप महाशय ! किस प्रकार फिर यहाँ आ गए हैं स्वच्छंद ?"

(५६)

"हे भैमी ! मैं इंद्र, अग्नि, यम और वरुण का दूत पवित्र ;
जिनने श्रेष्ठ तुम्हारी छवि के समाचार सुन महा विचित्र—
मुझे यहाँ भेजा है कहने निज इच्छा को तुमसे आज ;
और तुम्हें बतलाने तुम पर मोहित है सब देव-समाज।

(५७)

"हे कल्याणी ! उनमें से तुम किसी देव को वर लो आज ;
ले लो और बिना माँगे ही इस विशाल त्रिभुवन का राज।
ऐसा करने पर ही तुमको अमर बना देंगे अमरेश ;
और तुम्हारी अमल कीर्ति भी हो जावेगी और विशेष।

(५८)

"नव-यौवन में है छोटा-सा दिखलाई देता आकाश ;
उलटी-सीधी नहीं सूझती, बुद्धि नहीं रहती है पास।
अपने-आप चला जाता है कहीं हवा खाने को ज्ञान ;
और बुराई पर ही इससे जमा हुआ रहता है ध्यान।

(५९)

"हे सुकुमारी ! तुम्हें इसलिये मैं देता हूँ यही सलाह ;
बिना विचारे ही कर लो तुम किसी देव से आज विवाह ।
मुझ-जैसा हित करनेवाला और मिटानेवाला कष्ट—
तीन जन्म में भी तो तुमको नहीं मिलेगा, है यह स्पष्ट ।

(६०)

"देखो महा प्रभाव सुरों का और बात यह बड़ी कमाल—
जिसके बल से बन अदृश्य मैं यहाँ आ गया हूँ इस काल ।
सच कहता हूँ, सुनो, तुम्हारा सभी भाँति इसमें कल्याण ;
वर लो किसी देव को भैमी ! मेरी नम्र विनय को मान ।"

(६१)

निज प्रतिकूल गिरा सुन नल की दमयंती कर कोप महान—
लगी दूत को ऐसा कहने—"हे सुर-धावन ! बुद्धि-निधान !
मैं साधारण एक मानवी, मेरा उनके साथ विवाह !
सोच-समझकर कहो महाशय ! हो सकता है कैसे आह !

(६२)

"आप लोकपालों से जाकर कहना मेरा नम्र प्रणाम ;
वे सब मेरे पिता-तुल्य हैं, मैं न करूँगी ऐसा काम ।
देवलोक में ही देवों के संभव है होती यह रीति ;
स्वयं * पिता होकर करते हैं निज पुत्री से अनुचित प्रीति ।

(६३)

"वीर † से न तन यही सुभग वर मेरा देखा गया सुजान !
पिता और भ्राता को इसका संभव है कि नहीं है ज्ञान ।

---

* ब्रह्मा और सरस्वती की एक ऐसी ही कथा प्रचलित है । † हे सुजान ! (चतुर दूत !) वीरसेन-तनय (नल) ही मेरा सुभग वर

किंतु आप सुर-दूत, इसलिये सभी तरह हैं आप समर्थ ;
औरों का साहस होता, तो हो जाता वह बिलकुल व्यर्थ।"

(६४)

मान उसे निज में अनुरक्ता, नल आनंदित हुए महान ;
और लगे कहने जब उनको दूतपने का आया ध्यान।
"मरनेवाले मानव से क्यों करती हो तुम यों अनुराग ?
जिसके कारण होता तुमसे अजर-अमर देवों का त्याग।

(६५)

"कहाँ देवपति और कहाँ नल, है उनका उसका क्या साथ ?
कोमल कंठ तुम्हारे में क्या शोभा देगा उसका हाथ ?
स्वर्ग-लोक का स्वामी सुरपति, नल है एक भूप सामान्य ;
इस भूमंडल पर ही उससे कई श्रेष्ठ हैं नृप अन्यान्य।

(६६)

"कीर्ति, शक्ति में और रूप में उनके सदृश नहीं नल भूप ;
उनके सम्मुख क्या गिनती है, क्या है उसका और स्वरूप ?
रवि दीपक का-सा है अंतर इंद्र और नल में छवि-गेह !
हटा दीजिए अपने मन से बचा-खुचा अब उसका स्नेह।

(६७)

"दिक्पालों के सम्मुख क्या है बेचारे नल की लघु शक्ति !
तुमने भी हे भुवन-मोहिनी ! अच्छे में की है अनुरक्ति !
घर की रहीं न घाट की, तुम पर क्या यह धुन है हुई सवार ?
आज तुम्हारा नारी-हठ ही तुम्हें डुबा देगा मझधार।

(सुंदर पति) देखा गया (है)। दूसरा अर्थ—हे चतुर दूत ! यही मेरा सुंदर शरीर (जिसे आप बेधड़क देख रहे हैं) आज तक किसी भी वीर के नहीं देखा गया है, और मेरे माता-पिता को भी इसका पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है।

(६८)

"काम करो तो करो सोचकर, पर यह क्या करतीं अन्याय ?
जीवन-सुख को लात मारना कहो कहाँ का है यह न्याय।
मुनिजन भी ताका करते हैं दिव में जाने को दिन-रात ;
उसके हित तुम क्यों ना करतीं, यह न बुद्धिमानों की बात।

(६९)

"स्वर्ग-प्राप्ति-हित तप करते हैं कष्ट अनेक उठाकर लोग—
नहीं तदपि अधिकारी होते उसको कभी न सकते भोग।
अनायास ही और अयाचित मिलता है वह तुमको आज ;
क्यों तुम उसको ठुकराती हो, क्यों तजती हो उसका राज ?

(७०)

"मिला सुअवसर है जो तुमको, उसे न जाने दो इस काल ;
सोच-समझकर काम करो तुम, चतुरों की-सी खेलो चाल।
क्यों न उसे ही वर लेती हो जो सदैव रहता निष्काम ;
और तुम्हें जो कर सकता है एक अनश्वर छवि-गुण-धाम ?"

(७१)

"दूत महोदय ! इस प्रकार मत तर्क-वितर्क कीजिए आप ;
इन बातों का करना तो क्या सुनना भी है मुझको पाप।
विष से भरे वचन कर सकते हृदय-बीच मेरे कुछ घाव ;
किंतु डाल सकते न कभी भी मुझ पर अपना महा प्रभाव।

(७२)

"सुर-महिमा पर मोहित होकर छोड़ूँगी मैं नहीं स्वधर्म ;
नारी का अक्षय-रक्षक है केवल उसका सतीत्व-वर्म।
नहीं मुझे इंद्राणी बनना, नहीं स्वर्ग-सुख की भी चाह ;
और देवताओं से भी है करना मुझको नहीं विवाह।

(७३)

"वृथा प्रलोभन दे-देकर तुम देवों का भय दिखलाकर—
मुझे न विचलित कर सकते हो झूठी बातें सिखलाकर।
आर्य-कुमारी की होती है सदा प्रतिज्ञा अटल, अचल;
प्राण त्याग देती, पर प्रण को सती न सकती कभी बदल।

(७४)

"धर्म-हेतु सुख को तज दूँगी, किंतु सौख्य के लिये न धर्म;
नहीं स्वर्ग में धर्म रहेगा, वहाँ मिलेगा बस सुख-कर्म।
जहाँ धर्म, सुख दोनो रहते, वहाँ रहूँगी मैं दिन-रात;
मानूँगी न किसी का कहना, रक्खूँगी मैं अपनी बात।

(७५)

"त्रिभुवन-वैभव को करती हूँ सतीपने पर न्यौछावर;
और वारती हूँ देवों को मैं जीवन-जीवन ऊपर।
नारी-धर्म-महत्ता तुमको अब तक कुछ भी हुई न ज्ञात;
इससे ऐसी बात बनाकर करते हो अनुरोध बलात।

(७६)

"आप निवेदन यही कीजिए पूज्य सुरों से सहित प्रणाम;
नैषध के अतिरिक्त किसी को वह न वरेगी हे गुण-धाम!
सुर-माया से जो न मिल सके वे मेरे प्राणों के नाथ,
तो मैं प्राण-त्याग कर दूँगी, लूँगी कभी न सुर को साथ।"

(७७)

"हे भोली भैमी! मत करना कभी भूलकर ऐसी भूल;
किसी तरह भी ठीक नहीं है देवों से होना प्रतिकूल।
तुमको छुटकारा न मिलेगा प्राण-विसर्जन के भी साथ;
मरने के पीछे वे तुम पर साफ़ करेंगे अपना हाथ।

(७८)

"सबके प्राण प्रथम रहते हैं अंतरिक्ष * में जा कुछ काल ;
जिसका स्वामी वही तुम्हारा इच्छुक है निर्जर-भूपाल ।
वह कैसे छोड़ेगा तुमको, बतलाओ मुझको छवि-गेह !
वहाँ तुम्हें करना ही होगा किसी तरह से उससे स्नेह ।

(७९)

"पावक में जो जल जाओगी, तो होगी बस कृपा विशेष—
अग्निदेव पर, शीघ्र तुम्हारा हो जावेगा जो प्राणेश ।
जल में डूब मरोगी, तो फिर वहाँ वरुण है जल का नाथ ;
तुम्हें अवश्य पड़ेगा देना सभी तरह से उसका साथ ।

(८०)

"भैमी ! जो तुम किसी युक्ति से इनसे बच भी गईं निदान ;
तो दुस्तर है यम से बचना जहाँ अवश्य जायँगे प्राण ।
जो जीवित रह गईं, न तब भी इच्छा होगी कभी प्रपूर्ण ;
डाल विघ्न-बाधाएँ वे सुर रहने देंगे उसे अपूर्ण ।

(८१)

"नल में इतनी शक्ति कहाँ है, कर विरोध जो उनके साथ—
कर सकता है ग्रहण तुम्हारा अमल कमल-सम कोमल हाथ ।
इससे मानो मेरा कहना, मनुज-प्रेम का कर दो त्याग ;
और करो उत्पन्न चित्त में किसी देव से तुम अनुराग ।"

(८२)

उसने कहा कपोलों को कर निज नीरज-लोचन-जल-सिक्त—
"और किसी को मैं न वरूँगी निषधराज नल के अतिरिक्त ।
मत बढ़ाइए बात महाशय ! नहीं दूत का यह कर्तव्य ;
आप यहाँ से चले जाइए इतना ही मेरा वक्तव्य ।"

---

* आकाश ।

(८३)

इतना कहकर शीघ्र हो गई दमयंती चेतनता-हीन ;
जीवन-जीवन * से च्युत होकर थी वह मानो जीवन-क्षीण ।
ऐसी शोभा छिटकाता था उसका स्वेद-विंदु-युत भाल ;
मानो अर्ध चंद्र पर स्थित थी गज-मुक्तावलि एक विशाल ।

(८४)

उसको ऐसे देख मूर्च्छिता होकर नल ने अंतर्धान—
स्वार्थ-वश्य देवों के सम्मुख शीघ्र कर दिया फिर प्रस्थान ।
पहुँच वहाँ सब हाल कह दिया, जिसको सुनकर वे दिव-धाम—
चले गए आशिष दे करके, लेकर नल का नम्र प्रणाम ।

(८५)

मूर्च्छा-गत जब भीम-नंदिनी को कुछ होने लगा प्रबोध—
हुआ उसे तंद्राऽवस्था की स्वप्न-दशा में तब यह बोध ।
दूत-रूप बनकर आए थे मेरे प्रियतम, प्राणाधार ;
सुंदर हंस-कथित वर्णन भी प्रकट कर रहा यही विचार—

(८६)

"मंजु-मदन-मद-मर्दनकारक, त्रिभुवन-शोभा के भांडार—
ये ही मेरे प्राणनाथ थे रूप-राशि, गुण-पारावार ।
वे अदृश्य अति शीघ्र हो गए, मुझे यही है केवल खेद—
उन्हें नहीं तो कहना पड़ता मेरे आग्रह से सब भेद ।

(८७)

"बैठी-बैठी देख रही थी या मैं कोई स्वप्न विचित्र ;
अथवा आज सामने मेरे प्रकट हो गए पुण्य पवित्र ।
या यह कोई सुर-माया थी, अथवा थी यह सच्ची बात ।"
ऐसे ही विचार दमयंती करती रहती थी दिन-रात ।

* नल ।

(८८)

जिसका शोभागार और अति-वैभव-शाला ;
सुखद स्वयंवर श्रेष्ठ शीघ्र है होनेवाला।
प्रियतम नल को जहाँ ढूँढ़ने वह आवेगी ;
अपनी नख-शिख * कांति और फिर दिखलावेगी।

---

* किंतु वर्णन शिख-नख नहीं होगा, क्योंकि वह देवी नहीं थी, मानवी थी। नख-शिख-वर्णन देवतों का होता है, और शिख-नख-वर्णन मनुष्यों का।

सातवाँ सर्ग

(१)

राजद्वार-समीप मनोहर बना हुआ था मंडप एक ;
जड़े हुए थे जिसमें मंजुल मणि-मुक्ता-माणिक्य अनेक ।
सोने के खंभे थे इसके, चाँदी का था कोट विशाल ;
भीम-विभव को देख-देखकर चकित हो रहे थे भूपाल ।

(२)

पुष्प-दलों से सजे हुए थे रंगभूमि के चारो द्वार ;
भृंग-भार को जो सहते थे होकर महा सुगंधाधार ।
धीर, वीर, गंभीर, अनुभवी और श्रेष्ठ क्षत्रिय-कुल-दीप—
शुभ-स्वागत करते थे उनका, जो आते थे वहाँ महीप ।

(३)

सजे - सजाए थे सोने के यहाँ सैकड़ों सिंहासन ;
बिछे हुए थे इन पर मंजुल मखमल के कोमल आसन ।
जिन पर बैठे हुए भूप थे देश-देश से आ-आकर ;
उनके पीछे खड़े हुए थे सेवक जन आज्ञा पाकर ।

(४)

इसी सभा-मंडप में स्थित थे नल भी होकर अति विह्वल ;
बड़ी कठिनता से जाता था चिंता में उनका पल-पल ।
क्योंकि उन्हीं के निकट उपस्थित थे वे भी चिंतित निर्जर ;
था भैमी के पास जिन्होंने भेजा उनको धावन कर ।

(५)

पारावारों में पय-सागर, शैलों में कैलास विशाल ;
सरोवरों में मंजुल मानस, व्योमचरों में मंजु मराल।
मुनिराजों में चतुरानन-सुत*, ऋषिराजों में वेदव्यास ;
दिव्य वाहनों में हरि-वाहन†, तत्त्वों में द्युतिमान प्रकाश।

(६)

अवतारों में श्रीयदुनंदन, राम‡ यादवों में बलधाम ;
भूदेवों में गुरु×, देवों में इंद्र, क्षत्रियों में श्रीराम—
और सभी ऋतुओं में जैसे सुंदर लगता है ऋतुराज—
वैसे ही सब राजाओं में शोभित थे नल भी नृपराज।

(७)

जिनके महा रूप को सारे देख-देख घबराते थे ;
निज शोभा के हेतु और वे व्यर्थ न गाल बजाते थे।
वारंवार निरखकर उनकी किंतु प्रशंसा करते थे ;
और भावनाएँ भी मन में कई तरह की भरते थे।

(८)

"नल की देह-दीप्ति है कैसी, कैसा है मुख-तेज महान ;
कैसे हैं भुजदंड मनोहर, अति विशाल, दृढ़, बल की खान !
कैसी सुंदर हैं जंघाएँ, गौरवर्ण कैसा उज्ज्वल ;
कैसा उन्नत है ललाट यह, और वज्र-सम वक्षस्थल !!

(९)

"इनका रूप सलोना होकर, क्यों है फिर माधुर्य-निधान ?
महा शांति यह क्यों देता है धारण करके तेज महान ?
सुधा-सदृश अति मधुर वीचि को महा लवणता-पारावार—
बहा रहा है कैसे, हमको यही एक आश्चर्य अपार।

---

* नारद मुनि। † गरुड़। ‡ बलराम। × बृहस्पति।

(१०)

"इनके रहते हुए भीमजा नहीं करेगी हमें वरण ;
हे जगदीश ! आप ही रक्षक, लें हम किसकी आज शरण ?
यही आप वरदान दीजिए, पूर्ण कीजिए यह आशा ;
इस विवाह-रूपी चौसर में पड़े हमारा चित पासा।"

(११)

वहाँ सभी भूपति करते थे इस प्रकार सुविचार अनेक ;
अभिलाषा उठती थी उनके और एक से बढ़कर एक।
किंतु चित्त में था नैषध के नहीं हर्ष या कुछ संताप ;
शांत - भाव से निज आसन पर जमे हुए थे वे चुपचाप।

(१२)

साथ लिए कुछ सखीजनों को, थीं जो सुंदर* चतुर विशेष—
शुभ मुहूर्त में दमयंती ने रंगभूमि में किया प्रवेश।
बड़े ध्यान से देख-देखकर उसकी चारु अचंचल चाल—
सोच रहे थे यही चित्त में बैठे-बैठे सब भूपाल—

(१३)

"गिरा-हंस को, ऐरावत को है इसने ही सिखलाया ;
इसके सदृश तभी तो उनको मंद गमन करना आया।
किंतु शिक्षिका की वे समता नहीं आज भी कर सकते ;
मंद-मंद चलकर भी मन को नहीं इस तरह हर सकते।

(१४)

"जो हर भी लें किसी तरह से, तो वे मुँह की खावेंगे ;
और भीमजा के-से यश को नहीं कभी भी पावेंगे।

---

* हिंदी में पुल्लिंग विशेषण का स्त्रीलिंग विशेष्य के साथ भी उपयोग होता है।

जो* उसके पीछे पड़ करके आगे भी बढ़ जाता है—
पद-स्पर्श भू पर सित होकर काले चिह्न बनाता है।

(१५)

"अमला कमला-सी होकर यह क्यों न महा चपला इस काल—
वाणी की समता पाकर भी क्यों न दीखती यह वाचाल ?
नल राजा को स्वपति बनाकर हर सकती थी रति निज शोक,
किंतु देखकर इसको† उससे छोड़ा गया नहीं सुरलोक।"

(१६)

कई कल्पनाएँ करते थे इसी तरह भूषित भूपाल ;
मंत्र-मुग्ध-सम देख रहे थे दमयंती को वे उस काल।
इसका कारण हो सकता था उसका शोभा-पारावार ;
जिसमें अब तैरा जाता है पाने को बस परली पार।

(१७)

शोभन कुसुम-रंग की साड़ी भैमी-तन पर थी शोभित ;
हरी किनार लगी थी जिस पर, करती थी जो मन मोहित।
किया गया था काम ज़री का बड़ी निपुणता से उस पर ;
बने हुए थे बीच-बीच में फूल मोतियों के सुंदर।

(१८)

साड़ी से कुछ ढका हुआ था भैमी भूषित भाल विशाल ;
जो अतीव सुखदायिनि-शोभा प्रकट कर रहा था उस काल।

---

* दमयंती जहाँ पाद-प्रहार करती थी, उसी स्थान पर भौंरे आकर बैठ जाते थे। क्योंकि उसके चरण-कमलों में ऐसी अपूर्व सुगंध थी, जो स्पर्श करनेवाली वस्तु को भी अतीव सुवासित बना देती थी। उसका सुयश उसके पीछे पड़कर भी भूमि पर श्वेत-चिह्न (यश का रंग श्वेत होता है) नहीं बनाता था, किंतु कृष्ण ; और वह पीछे था, तो भी आगे रहता था। † भैमी को।

कज्जल-से काले केशों पर होता था यों ज्ञात दुकूल*—
पड़े हुए थे भृंगावलि पर नवगुलाब के मानो फूल।

(१९)

दमयंती के सुभग शीश से श्यामल, कुंचित, कांति-निधान—
अलकावलियाँ लटक-लटककर लगती थीं ऐसी छवि-खान—
मानो मुख-पूर्णेंदु-भीति से होकर के तम भीत महान—
कटि से नीचे उतर रहा था कहीं बचाने अपने प्राण।

(२०)

भैमी-वदन बनाकर विधि ने एक बात ऐसी की थी—
जिससे साथ अमावस्या के सदा पूर्णिमा रहती थी।
और † अमावस्या होती थी वहाँ पौर्णमासी पश्चात;
पूर्ण चंद्र ने दीख कुहू ‡ में कर दी झूठ शास्त्र की बात।

(२१)

मंजुल माँग कृष्ण केशों में कैसी शोभा पाती थी—
सरस्वती × अपने को मानो यमुना बीच बहाती थी।
या था शैवालों पर मंजुल मुकुल कमल-रेखा-प्रसरण;
अथवा उरगी-युगल-दलों में वह सीमा थी वशीकरण।

(२२)

कृष्ण मेघमाला में विद्युत, या थी बकावली अविशाल;
सूर्य-सुता-शैवाल-जाल में या थे रेखा-बद्ध मराल।

---

* वस्त्र, साड़ी। † एक ही मास का हिसाब लगाया जाय, तो पहले अमावस्या और पीछे पूर्णिमा होती है। किंतु यहाँ पर पूर्णिमा पहले (मुख) और अमावस्या पीछे (केशकलाप)। दूसरे यहाँ पर अमावस्या में ही पूर्ण चंद्र दिखलाई देता है। ‡ अमावस्या। × सरस्वती नदी के जल का रंग रक्त माना जाता है। दमयंती की माँग में सौभाग्य-चिह्न रोली या सिंदूर की सूक्ष्म रेखा थी जो पुष्प-पराग-युक्त भी हो चुकी थी।

या था विधुवदनामृत-हित वह दुष्ट राहु-रसना-प्रस्तार ;
अथवा तिमिर-लोक में द्युति का राजमार्ग था शोभागार ।

(२३)

शिरोरुहों में गुथे हुए थे कहीं-कहीं सित पुष्प ललाम ;
फणीश्वरों की मणियों के सम लगते थे जो अति अभिराम ।
अथवा तिल-समूह में तंडुल पड़े हुए थे सितता-धाम ;
या हीरे ही जड़े हुए थे अति मंजुल मणियों में श्याम ।

(२४)

शीतल, सुरभित, तैल-सुचिक्कण कच थे ऐसे शोभा-खान—
है मकरंद-मग्न मधुपावलि होती जैसे कांति-निधान ।
कुछ-कुछ गोलाकार रूप से ढका हुआ था इनसे भाल ;
श्यामल मेघाछन्न अर्द्ध-विधु-भाग-सदृश था जो उस काल ।

(२५)

या थी भागीरथी*-तीर पर पिकावली पाने को शांति ;
अथवा अर्ध क्षीर-सागर में थी यमुना-जल की कल कांति ।
सुंदर स्वर्ण-पट्टिका पर या लिखा हुआ था महा विचित्र—
कामदेव के कर-कमलों से जन-मन-मोहन मंत्र पवित्र ।

(२६)

था यों बीचों-बीच रक्त-मणि-भूषण इनसे मिला हुआ—
मानो कज्जल-राशि-मध्य में लाल कमल हो खिला हुआ ।
जिसकी प्रभा भाल को कुछ-कुछ रक्त वर्णमय करती थी ;
विधु पर मंगल-विलुलित छवि-सम जो जन-मन को हरती थी ।

---

* दमयंती का विशाल भूषित भाल गंगा-तट के समान पवित्र और चौड़ा-लंबा था ।

(२७)

भृकुटि-युग्म की देख कुटिलता काम-कृपाण-म्यान का मान—
मन्मथ-धनु के सदृश आप ही होता था उस पर बलिदान ।
ठीक बीच में पूर्ण इंदु-सम चंदन-विंदु-गंध प्रख्यात—
इधर-उधर से खींच रहा था उरगी-युग को निकट बलात ।

(२८)

अथवा लोचन-पद्म-गंध पर भृंग-वृंद बन अंध अमंद—
द्वंद्व-सहित फँस रूप-फंद में पान कर रहा था मकरंद ।
या कज्जल की दो रेखाएँ थीं विधि-निर्मित ये छवि-खान ;
जिनके कारण नहीं वदन पर लगता था कुदृष्टि का बाण ।

(२९)

भैमी-नेत्र देख मन ब्रीड़ित, मृगियों ने वनवास लिया ;
चारु चकोरों ने मरने को अंगारों का भोज्य किया ।
मीनें और नील नीरज भी डूब गए क्षीराब्धि जल में ;
और मंजु खंजन भी लज्जित चले गए नभ में पल में ।

(३०)

स्मर-सायक ने उन नयनों में काल कज्जल था लगा दिया ;
मानो अति बेधक करने को विष-लेपन था गया किया ।
या थी लज्जा-सर-संपुट में मानिनि-सर्पिणी मदमाती ;
अथवा कृष्ण-बिंदु की छवि थी पलकों के ऊपर आती ।

(३१)

कीर-नासिका, तिल-प्रसून का था जो कीर्ति-समूह महान;
उसकी बनी नासिका भैमी-रुचिर-नासिका शोभा-खान ।
लगते* थे गोले-से कैसे माखन के गोले भी लोल—
यही सिद्ध करते थे उसके गोल-गोल अनमोल कपोल ।

---

* राजों के हृदय मे ।

(३२)

अति सुंदर दोनो कानों में जो कहलाते शोभागार—
एक-एक था भूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार।
कर्णपूर-प्रतिबिंब-युक्त था कांत कपोल-युग्म उस काल;
कभी श्वेत था, कभी हरा था, कभी-कभी हो जाता लाल।

(३३)

बिंबाधर सित-दंत-दीप्ति से दीप्तिमान अति सुंदरतर—
एक विचित्र बात करते थे सुधा-माधुरी-धर होकर।
अधिकाधिक निज वर्णन से वे मिष्ट लेखनी को करके—
उसका ईख बना देते थे मीठा रस उसमें भर के।

(३४)

फिर वर्णन-शैली भी होती उसके द्वारा मिष्ट ललाम;
और अंत में इन बातों का ठीक यही होता परिणाम।
जो कवि रुकता नहीं शीघ्रतम वर्णन पर कुछ डाल प्रकाश—
तो वह सुधा-सिंधु हो जाता फैला भू पर महा मिठास।

(३५)

इससे रदपट * वर्णन को मैं करता हूँ बस यहीं समाप्त;
क्योंकि लेखनी रसनाएँ हैं जुड़ती होकर मधुता-व्याप्त।
चारु चिबुक थी, अथवा था वह चंद्रानन का अंतिम भाग;
जो उत्पन्न हुआ था करने सुंदरता-सीमा-मद-त्याग।

(३६)

इसका कूप अनूप रूप को इसके अंदर भरता था;
महा कांति की वापी को भी और विनिंदित करता था।
कमल-कली पर भ्रमरी के सम इसके ऊपर तिल सुंदर—
लगता था यों, फिसल पड़े ज्यों अधराऽमृत-हित हरि आकर।

* होठ।

(३७)

क्षीरोदधि-उत्पन्न कंबु था भैमी के कल-कंठ समान ;
जिसे देखकर मिट जाता था कलरव-गल का गर्व महान ।
वीणा-सदृश कंठ के रव को सुन करके कलकंठ बलात—
कृष्ण हो गई कुहू *-सदृश थी, कुहू-कुहू करके दिन-रात ।

(३८)

पालन-शक्ति-चक्र-धर होकर भैमि-पयोधर थे हरि-रूप ;
अलकावलि-चंदन-युत होकर थे वे शंकर महा अनूप ।
प्रजा-पुष्टि-कर, रक्त-वदन-धर थे वे विधि, उर-नीरज-जात ;
इस प्रकार कुच शोभित थे, ले तीनो ही का रूप बलात ।

(३९)

रक्त कंचुकी-युत हो करके करते थे वे महा विकास ;
अथवा अनुपम छवि देते थे रविकर-दीप्त युगल कैलास ।
या वे ललित लाल चंदन-युत थे ऐरावत-कुंभ ललाम ।
अथवा वे कुंकुम से रंजित थे दो श्रीफल शोभा-धाम ।

(४०)

श्रेष्ठ प्रजापति ने रतिपति की पशुपति-कृत दुर्गति को जान—
और सृष्टि-उत्पत्ति-नाश को मान महा अपना अपमान—
जिन मणि-स्वर्ण-घटों में रक्खा रति-द्युति-सहित काम असु-ओज—
वे ही शोणित † मुद्रावाले थे भैमी के युगल उरोज ।

---

* अमावस्या के समान । † ब्रह्मा ने मदन-दहन से क्रुद्ध होकर अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना को सुरक्षित रखने के अभिप्राय से कामदेव के ओज को और विलाप-विधुरा रति की अलौकिक कांति को दो स्वर्ण-घटों में रख लिया था, और उन पर अपनी लाल मोहर भी लगादी थी । ये घट ही अब दमयंती के पयोधरों के रूप में प्रकट हुए हैं ।

(४१)

जो यह मिथ्या है, तो इनसे होता था क्यों स्मर उत्पन्न ?
और रम्य रति-द्युति क्यों रहती दमयंती-तनु पर आछन्न ?
इससे रक्त कुंडलीधारित अथवा थे वे स्मर-कर-हर ;
उसी * ललाट-नेत्र से करते वे अनंग को थे तनु-धर ।

(४२)

सारे राजाओं के मन में यही हो रहा था आश्चर्य ;
स्थूल कुचों का भार किस तरह सहता है कटि का सौंदर्य ।
जिसे देखकर सब सिंहों ने आज ले लिया है वनवास ;
और जनार्दन हो करके वे करते हैं निर्भय जन-नाश ।

(४३)

मणि-मुक्तामय रसना†-वर्णन रसना कैसे कर सकती ?
है समर्थ लेने को रस ना यों न मूकता हर सकती ।
परब्रह्म-सम-सूक्ष्म-मध्य की सत्ता को समझाने को—
थी वह बस अनुमान कराती, 'कटि है,' यह बतलाने को ।

(४४)

भुज मृणाल-युत कर-कमलों में शोभित थी वह वर-माला,
जिससे अति कोमल करतल में प्रकट हो गया था छाला ।
चारु चंद्रिका ललना बन, ले हाथों में स्रक् सुखकारी—
जाती थी निज इष्टदेव को करने को मालाधारी ।

(४५)

मानस-सर-सम रुचिर उदर पर नाभि-भँवर था अति गंभीर ;
रोमावलि-शैवाल सुशोभित था उसका ऊपर का तीर ।
अति मन-मोहन त्रिबली मानो थीं सोपानें शोभा-खान ;
दर्शक-मन को अति पटुता से कर देती थीं मग्न निदान ।

---

* काम को उत्पन्न करनेवाले शिव । † करधनी, कणकती ।

(४६)

भैमी-जंघा-रम्य-युग्म को देख-देख बल खाते थे—
　　रंभा के उलटे रंभा-सम ऊरू-युगल लजाते थे।
इंद्र-गजेंद्र विलज्जित होकर केवल हाथ हिलाता था;
　　काम-निषंग-युग्म निंदक बन ऊरू*-युग छवि पाता था।

(४७)

काम-कांत-कर-कमल-सुमंथित कामधेनु-नवनीत पुनीत—
　　और क्षीरनिधि-जात फेननिधि थे जो पावन, घटज-अपीत†—
ये दोनों लेते थे इनसे चिक्कनता-कोमलता-भार;
　　और कनक-दंडे भी इनसे होते थे दृढ़ता-आधार।

(४८)

उसके युगल-नितंब-बिंब थे कनक-चक्र-आकार सुपीन;
　　मानो थे वे काम-विनिर्मित चक्रवाक दो अचल, नवीन।
बहुत गठीली, पुष्ट पिंडलियाँ थीं ऊपर से गोलाकार—
　　जो अनंग के वर-निषंग को कर देती थीं लज्जागार।

(४९)

चारो गुल्फ‡ मात करते थे क्षौम-ग्रंथियों का सुंदर;
　　दूषण-हीन, स्वर्ण-भूषण-युत, रूप-मूल थे वे सुख-कर।
रक्त-गौर वे युगल एड़ियाँ दाड़िम को शर्माती थीं;
　　जिन्हें देखकर कमल-कली भी जला-भुनी बन जाती थी।

(५०)

रवि-अनुराग-युक्त होने से कांत-कमल थे चरण-समान;
　　जिनके आगे छवि देती थीं चंपक कलियाँ कांति-निधान।

---

* ऊरू और ऊरु दोनों ही शुद्ध हैं। † अगस्त्यजी से न पिया हुआ।
‡ टखने। इनको रेशम की घुंडी (गाँठ) से उपमा दी जाती है।

पद-नख-प्रभा-प्रभाकर-कर की अरुण प्रभा-सम थी छविमान ;
विभावरी *-पति-बिभा-सदृश थी उन पर भूषण-विभा महान।

(५१)

चंदन-हरिचंदन के दल-सम निर्मल पदतल थे सुविकल ;
क्योंकि दुखी होते थे पल-पल मखमल पर भी वे चल-चल।
सिरस-सुमन के चुभ जाने से उनमें व्रण हो जाता था ;
निरा निराला छाला जिन पर माखन-स्पर्श बनाता था—

(५२)

रक्त अलक्तक-रंजित थे वे, अथवा थे मेहँदी-से लाल ;
या वे पुष्पाच्छन्न भूमि पर इधर-उधर चलकर उस काल।
उसकी कोमलता में भी वे कर्कशता ही की कर भ्रांति—
वहाँ प्रकट करते थे मानो क्रोध-लालिमा की वे कांति।

(५३)

चंद्रकला-सी ऐसी भैमी किए हुए थी सब शृंगार ;
और सभी गहने पहने थी, थे जो रम्य-रत्न-आधार।
मधुर गंध का स्रोत बहाकर, चारु चतुर सखियों के संग—
धीरे-धीरे चलती थी वह रंगभूमि में सहित उमंग।

(५४)

भीम-सुता यद्यपि करती थी शीघ्र गमन के लिये प्रयास ;
किंतु एक भी चेष्टा उसकी पहुँची नहीं सफलता पास।
मंजुल पदतल रंग-भार से दबे हुए होकर उस काल—
गज से और हंस से भी तो अधिक मंद चलते थे चाल।

(५५)

मेहँदी ने पैरों पर पड़कर पकड़ लिए जब उसके हाथ—
मंजु मुद्रिका का सखियों ने छुड़ा दिया तब उनसे साथ।

---

* चंद्र-चंद्रिका-समान ।

इससे नरम उँगलियाँ उसकी सहती थीं माला का भार ;
जो*हलकी होती जाती थी पिला मधुकरों को निज सार ।

(४६)

चकाचौंध होकर इस छवि को देख सकेंगे कैसे भूप ?
जाने देतीं पास न उनके इससे सखियाँ उसे अनूप ।
दीप-शिखा जलती थी जिसका देख अलौकिक तनु-सौंदर्य—
गिर पड़ती थी चारु चंद्रिका उसके लिये न कुछ आश्चर्य ।

(४७)

इधर-उधर चलती थीं सखियाँ उसे घेरकर चारो ओर ;
चुभ न जाय कोमलतम तन पर मनुज-दृष्टि की तीखी कोर ।
इसके अति अवलोकन से भी दृष्टि-मलिनता का आभास—
हो जावेगा कांत-कांति में था उनको यह भी विश्वास ।

(४८)

थी भैमी तनुधारिणि-शोभा और मृदुलता का अवतार ;
ललना-जाति-मुकुट-मणि थी वह चौदह लोकों का शृंगार ।
"रति, रंभा से और रमा से है", ऐसा कहते थे भूप—
"दुगुना, तिगुना, आज चौगुना अहो ! सौगुना इसका रूप ।"

(४९)

संभव है कि अधिक वर्णन से क्या-से-क्या हो जावेगा !
छाले तन पर पड़ जावेंगे अपयश सिर चढ़ आवेगा ।
है इस कारण उसका वर्णन यहीं समाप्त किया जाता ;
क्योंकि दूसरा मार्ग इस समय नहीं दृष्टि में है आता ।

* उसके कर-कमल वरमाला का भार सहने में भी असमर्थ थे, किंतु वह माला भौंरों को अपना मकरंद पिला-पिलाकर स्वयं हलकी होती जाती थी, अतः दमयंती उसे इतने समय तक उठाए रखने में सफल हो सकी थी ।

(६०)

और एक भय हुआ उपस्थित भैमी-शोभा-पारावार—
नहीं किसी भी तनुधारी को दे सकता है अपना पार।
ज्ञान-बुद्धि-नौका-हत मैं, जो पार-प्राप्ति-हित करूँ विचार—
तो यह महा धृष्टता है या शीघ्र डूबना है मझधार।

(६१)

इससे जाना चाह रहा हूँ भैमी - छवि - मर्मज्ञ - समीप ;
था जो महा मनोहर मानव और मनुज-पालक-कुल-दीप।
तड़प रही थी देख-देखकर दमयंती भी जिसका रूप ;
था ऐसा ही भव्य भूप वह धारण करके रूप अनूप।

(६२)

जिस प्रकार भैमी पाती थी सखियों में शोभा सुंदर—
उसी तरह नल भी भूपों में बने हुए थे रूपाकर।
नैषध - रम्य - रूप का सागर बस बढ़ता ही जाता था ;
क्योंकि विदूषण-हीन* पूर्ण विधु उसके सम्मुख आता था।

(६३)

उत्तमांग अंगों में जैसे, वृक्षों में जैसे मंदार ;
है गजमुक्ता मुक्ताओं में, तारों में विधु सुषमागार।
है कुसुमों में कमल, कमल है कमलों में गंगा का श्रेष्ठ ;
जिस प्रकार माने जाते हैं देवों में नारायण श्रेष्ठ।

(६४)

उसी तरह थे सभी नृपों में नल राजा शोभा पाते ;
और सभा में स्थित होकर भी नहीं रूप से थे माते।
राजा रूपी उन सिंहों में थे वे दुर्गा-पंचानन† ;
था उनकी ही देख-रेख में राजसभा-सुंदर-कानन।

---

* दमयंती-वदन। † सिंह।

(६५)

जैसे सभी सृष्टि में नभ है, नभ में वायु समाता है ;
और वायु में गंध, गंध में वशीकरण-बल आता है।
इसी तरह था राजसभा में नल-प्रताप का महा अनल—
फैल रहा कोने-कोने में होकर व्यापक प्रतिपल-पल ।

(६६)

दहनशील बन देता था वह* मैत्री-मन में शांति अपार ;
होकर ज्वलन† शीघ्र करता था अरि-गृह में तरु-तृण-संचार ।
नहीं न्यूनता, किंतु सर्वदा वृद्धि उसे देती थी वृष्टि ;
इसकी धूम-हीनता से ही होती थी धूमिल नृप-दृष्टि ।

(६७)

अति अद्भुत गुण एक और था निषध-देश-स्वामी नल में ;
चारु चंद्र-सम होकर भी वे हो जाते थे रवि पल में ।
मित्र-मंडली पर वे संतत सुधा-वृष्टि बरसाते थे ;
और प्रतापानल से अपने अरि का हृदय जलाते थे ।

(६८)

दिव-शासन के बिना किए भी लगते थे वे इंद्र-समान ;
थे वे श्यामल-वर्ण-हीन बन, लक्ष्मीनाथ विष्णु-भगवान ।
भूमंडल पर तनुधारी वे कामदेव होकर उत्पन्न—
करते थे निज सुंदरता से रति को भी अत्यंत प्रसन्न ।

(६९)

ऐसे नल के उच्च शीश पर रत्न-जटित था मुकुट विशाल ;
निकल रहा था रंग-रंग का जिससे द्युति-किरणों का जाल ।
फैलाता था ऐसी शोभा मुकुट-सहित नल ललित ललाट—
दीपावलि के दिन देता है जैसी छवि गंगा का पाट ।

---

* नल-प्रतापाग्नि । † अग्नि ।

(७०)

कलित कपोत-कंठ से निर्मल नीलममणि-माला सुंदर—
लटक-लटककर दिखलाती थी चटक-मटक ऐसी उर पर—
मानो गौरी-सिंहराज ने नील - कमल - स्रक् की धारण ;
या उर पर अलि-कुल आया था मुख-मकरंद-पान कारण ।

(७१)

अति सुखदायक होकर भी वे शिव-नंदी को कष्ट महान—
देते थे दिखलाकर अपना कंध युग्म बल-पुष्टि-निधान ।
वे आजानुबाहु होकर भी थे भैमी-छवि-जित उस काल ;
जित हो उनने जीता उसको फैला प्रेम-सूत्र का जाल ।

(७२)

पीपल-दल-सम उदर-मध्य में रूप-सुंदरी दरी *-समान ;
भरी हुई रस-कूप-सदृश थी गहरी नाभि प्रभा की खान ।
संभव है कि उसी के रस का आती थी करने को पान—
मंजुल अलि-आवलि ऊपर से होकर श्रम से तृषित महान ।

(७३)

या थी रोमावली रुचिर यह दूर नाभि के चारों ओर ;
अथवा उड़ता था शैशव ही होकर कृष्ण धूम घनघोर ।
या भैमी-वियोग-दिनकर को शीघ्र भगा देने कर भीत—
राहु-चित्र-चित्रित होता था स्मर-कर से नल-वक्ष पुनीत ।

(७४)

थीं बलराम-सदृश-जंघाएँ पुष्ट, बलिष्ठ विशाल, महान ;
जिनके नीचे करभ-युग्म था पद्मसूल होकर छविखान ।
नत-नृप-मंजु-मुकुट-मणियों से घिस जाने से बनकर क्षीण—
नल के पद-नख अरुण-सूत † की अरुण प्रभा से थे न विहीन ।

---

* गुफा । † सूर्य ।

(७५)

ऐसे नल के निकट भीमजा जैसे-जैसे जाती थी—
वैसे-वैसे वह निज मन में फूली नहीं समाती थी।
इंद्र, अग्नि, यम, वरुण, दशा कुछ और दृश्य बतलाती थी ;
नल को देख समीप सुरों की छाती भर-भर आती थी।

(७६)

दमयंती को ज्ञात नहीं था होनहार क्या होना है ;
किसके सम्मुख पहले उसको अपना रोना रोना है।
देवों की माया को कैसे जाने वह भोली-भाली ;
उसकी वनमाला* का रक्षक है केवल अब वनमाली।

(७७)

है जो सबको पार लगाता, भक्त जिसे मन में भाता ;
करुणाभाव समाता जिसमें कोपभाव है क्षय पाता।
ऐसा दीनानाथ-जगत्पति हो जाता जिसका रक्षक—
क्या कर लेगा उसका भीषण महा काल भी बन भक्षक।

(७८)

सुयश, सम्मान भारत का बढ़ाया इस कुमारी ने ;
दिखाया किस तरह रक्खा पतिव्रत एक नारी ने।
वधूएँ श्रेष्ठ जो ऐसी यहाँ हम आज भी पाते ;
हमारे दासता के दिन कभी भी यों नहीं आते।

---

* वन के पुष्पों से बनी हुई वरमाला।

आठवाँ सर्ग

(१)

निज वैभव से चित्त सभी का हर लेती थी—
श्रेष्ठ स्वयंवर-सभा महा शोभा देती थी
उसमें सारे भूप ज्ञात होते थे ऐसे—
चारु चित्र के बीच दिखाई देते जैसे।

(२)

कोलाहल का, बातचीत का नाम नहीं था,
हिलने का भी और वहाँ पर काम नहीं था।
स्वर्ण-रूप्य-पाषाण-मूर्तियाँ महा मनोहर—
मानो बैठी हुई वहाँ थीं भूषित होकर।

(३)

बड़े ध्यान के साथ निमिष दृग पर न लगाकर—
प्रेम-देव को और हृदय के बीच जगाकर।
देख रहे थे सभी बड़े उत्साहित होकर—
निज मन को उस काल हाथ से अपने खोकर।

(४)

स्थित भी थे सब भूप वहाँ निज-निज आसन पर—
जा भी वे सकते न कहीं थे यद्यपि उठकर—
चरणों पर वे तदपि भीमजा के गिरते थे—
और हृदय को लिए हथेली पर फिरते थे।

(५)

लगती थी उस काल लाल कमलों की माला—
कर-कमलों के बीच इस तरह शोभाशाला—
मानो सबके हृदय हाथ में लिए हुए थी—
और सभी को वश्य भीमजा किए हुए थी।

(६)

ले मुट्ठी में प्राण सभी के वह जाती थी—
तो भी वह गुण-गेह उन्हें मन में भाती थी,
पर सबको विश्वास यही था महा कष्ट-कर—
नहीं वरेगी हमें कभी यह कांति मनोहर।

(७)

भैमी-द्युति को देख साँस लंबी भरते थे—
जीते भी थे और प्रेम से वे मरते थे—
मन में अपने आप महा लज्जित होते थे।
नल-छवि-ईर्षा-सिंधु-मध्य मज्जित होते थे।

(८)

सहनशीलता नहीं किसी ने देखी ऐसी—
दमयंती में भरी हुई थी अद्भुत जैसी।
कई तरह के भार धैर्य से वह सहती थी—
कष्ट उठाकर भी न किसी से कुछ कहती थी।

(९)

था असह्य छवि-भार प्रथम ही उस ललना पर—
फिर पट-भूषण-भार और था जिस पर गुरुतर—
तिस पर भी था और गिर रहा भूप-दृष्टि-भर—
जाती थी यों दबी हाथ में स्रक् वह लेकर।

(१०)

केश-भार को उच्च, पुष्ट, दृढ़ पावन बनकर—
सह सकते थे कठिन कनक-कुच-शिव-सम सुंदर,
पर सबको था भला यही आश्चर्य महत्तर—
कच-कुच-भार अपार सह रही कैसे कटि-वर।

(११)

इसी बात को देख स्वमन में हार रहे थे;
निज साहस को सभी भूप धिक्कार रहे थे।
सहता है दिन-रात भार कच-कुच का गुरुतम—
भैमी के इस मध्य भाग का साहस अनुपम।

(१२)

मन-रोचकता-धाम और अभिराम सुपावन—
भैमी का वर वेष सभी के था मन-भावन।
उसकी अनुपम छटा, छबीली, निपट निराली—
भूषण*-छवि-पय-भुक्त हो रही थी वर व्याली।

(१३)

दमयंती को देख पास में नल राजा के—
भूप-दृष्टि से मलिन हुई उसकी शोभा के—
शुद्ध सुधा को छान-छानकर पान कराने—
उस पर उनको और शीघ्र अत्यंत लुभाने—

(१४)

साड़ी को कुछ खींच रही थीं उसके मुख पर।
जो थीं उसके साथ चतुर वे सखियाँ सुंदर।

---

* दमयंती की शोभा रूपी सर्पिणी आभूषण-द्युति का पय-पान करके और भी अधिक डसकर मोहित करनेवाली हो चुकी थी।

जिनका ऐसा कार्य यही बस बतलाता था—
जयमाला-परिधान-काल मानो आता था।

(१५)

भव्य भाल पर ललित लाल थी महा मनोहर ;
जो होती थी ज्ञात नृपों को ऐसी रुचिकर—
मानो मंगल-दान हेतु था अर्ध चंद्र पर—
मंगल, वसुधा-पुत्र, सुधा पीने को रुचिकर।

(१६)

था मुक्ताफल एक नासिका-नीचे उज्ज्वल ;
अथवा था वह एक मनोहर कल्पवृक्ष-फल।
अधरामृत के महासिंधु पर बहनेवाली—
था होगी वह सुधा-बिंदु ही एक निराली।

(१७)

वक्षस्थल पर मंजु मतंगज मौक्तिक माला—
दिखा रही थी बार-बार ऐसा उजियाला—
मानो तारक-वृंद त्यागकर गेह गगन को—
था उर पर द्युतिमान मानकर चंद्र वदन को।

(१८)

मुख-अरविंद-सुगंध-मुग्ध थे या वे मधुकर ;
जो पराग से तथा हो गए थे उज्ज्वलतर।
चलने से मोती न मंजु हिलते थे उर पर ;
उड़ते थे मधु-हेतु मधुप ही मानो धूसर।

(१९)

कर्ण नीलमणि-प्रखर-प्रभा-प्रतिबिंब मनोहर—
होता था अस्तब्ध ज्ञात यों वर कपोल पर—

मानो पयनिधि-मध्य करवटें विष्णु ले रहे;
अथवा विचलित मेघ चंद्र पर छटा दे रहे।

(२०)

थे भैमी-भुजबंध मंद रवि-छवि को करते;
रजनी में भी कमल-कष्ट का थे वे हरते।
तन-तरु-शाखा-रम्य-युग्म के या वे फल थे;
या सुवल्लि पर ओस-बिंदु करते झल-झल थे।

(२१)

श्यामल नखों के ब्याज स्वर्ण संपुट-युग सुंदर*—
दिखा रहे थे छटा इस तरह कर-कमलों पर—
मानो अलि-कुल-पंक्ति देख मुकुलित सरोजवर—
मृदु मृणाल पर लिपट रही थी लोभित होकर।

(२२)

पीत, हरित, अरुणित, नील, श्यामल, अति लोहित,
पद-भूषण इस तरह कर रहे थे मन मोहित—
मानो सेवा हेतु नवग्रह आकर लगते;
पति होने के लिये सभी थे पैरों पड़ते।

(२३)

वह थी नहीं अमूल्य चारु जयमाला पावन,
कर-कमलों में किंतु त्रिलोकी-कीर्ति सुहावन।
धारण करके सुमन रूप वह अति शोभित थी;
सुमन-मनों को और कर रही अति मोहित थी।

(२४)

जब वह रमणी-मणि निषध-पति-निकट आ गई,
तब उस पर कुछ और प्रभा-युत कांति छा गई।

---

* हाथों में जयमाला होने के कारण वे मुट्ठी बंधे हुए थे—बंद थे।

सखोजनों के बीच सोहती थी वह ऐसे—
मंजुल-मणिगण-मध्य विष्णु की कौस्तुभ जैसे ।

(२५)

उसकी चंचल, चारु, दृष्टि बस देख रही थी—
उसी वस्तु को, उसे प्राण से जो प्यारी थी ।
आगे विदुषी सखी एक उसके आती थी,
परिचय देती हुई नृपों का जो जाती थी ।

(२६)

किंतु किसी की ओर तनिक भी नेत्र उठाकर—
देखा उसने नहीं उच्च कर शीश मनोहर ।
सुनते ही नल-नाम शीघ्र फिर रंगभूमि पर—
खड़ी रह गई स्वयं मोद को वह मन में भर ।

(२७)

निज नेत्रों को बार-बार झूठे बतलाकर—
देखे उसने वहाँ पाँच तुल्याकृति नर-वर ।
उनके भूषण वस्त्र एक ही से थे सारे ;
मानो नल के पाँच रूप ही थे वे प्यारे ।

(२८)

की उसने यह विनय "पास अब किसके जाऊँ ?
किसको हे भगवान ! विजय-माला पहनाऊँ ?
इनमें इसके योग्य कौन है, हे वनमाली !
इससे किसका कंठ बनाऊँ शोभाशाली ?

(२९)

"है यह हे जगदीश ! स्वप्न क्या एक भयंकर ?
या है मेरा दैव हो गया क्रोधित मुझ पर ।

THE RAJPUTANA PHOTO ART STUDIO, JAIPUR.
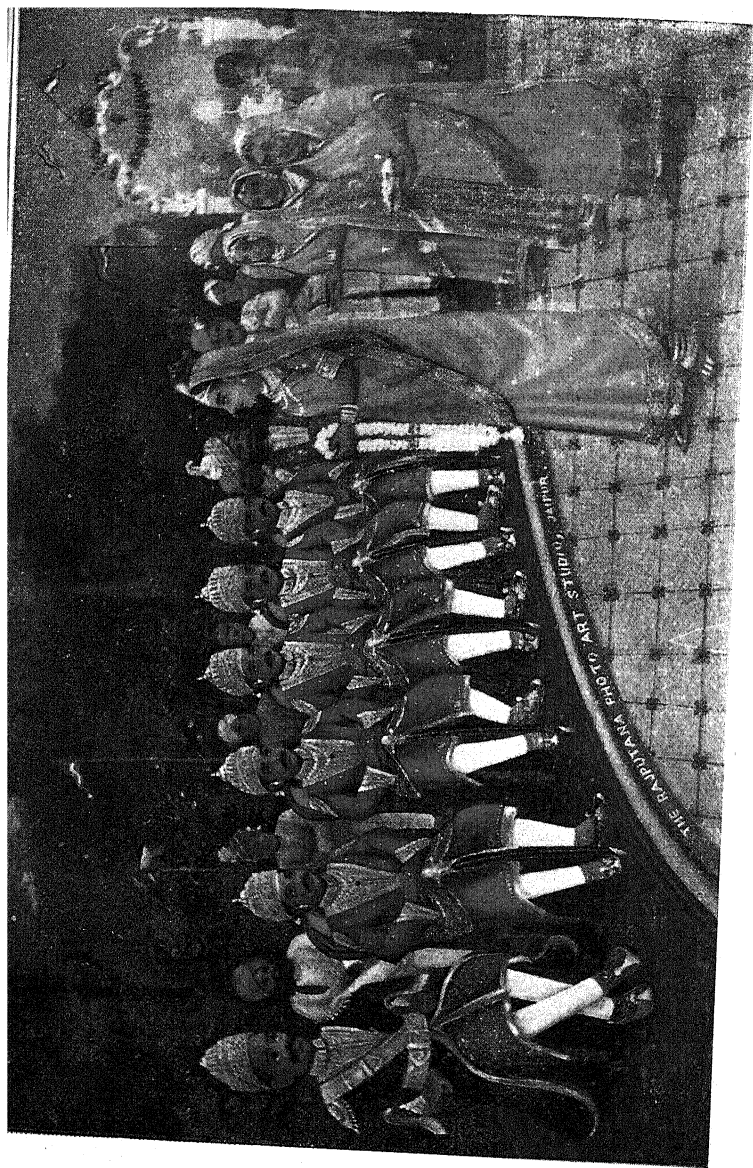
अथवा मेरा आज सो गया भाग्य-विधाता,
या है यह वह दृश्य ध्यान में जो न समाता।

(३०)

"हे करुणाकर! कहो, कुमारी क्या कर सकती?
दीना, अबला, भला दुःख कैसे हर सकती?
लीला करते सदा क्योंकि तुम लीलामय हो,
श्याम! राम! अभिराम, आपकी जय हो, जय हो।

(३१)

"प्रणतपाल! गोपाल! आप हैं करुणा-सागर!
नष्ट कीजिए महा कष्ट यह दृश्य हटाकर।
हे माला! पहचान शीघ्र तू ही प्रियतम को;
बतलाती है क्यों न आज तू नल अनुपम को?

(३२)

"हे मराल! अब कहाँ छिप गया है तू जाकर?
मेरे पति को मुझे शीघ्र बतला जा आकर।
गुण-स्वरूप का भेद जानता तू ही सारा;
तूने ही रह साथ, नाथ को खूब निहारा।

(३३)

"'अद्वितीय नल'—यही कहा था मुझसे तूने;
नहीं एक, दो, तीन यहाँ ढाई से दूने।
अहो! कहो हे तात! बात क्या झूठी तेरी;
आ करके यह देख दशा तो तू अब मेरी।

(३४)

"कुछ भी नहीं उपाय हाय! देता दिखलाई;
है मानस पर आज कष्ट की काई छाई।

पुण्य-सस्य पर पड़ा पाप का पाला कैसे ?
भाग्य-भवन पर और डल गया ताला कैसे ?

(३५)

"मेरे पति को आज बताता मुझे न कोई ?
किसने मेरे लिये बेल यह विष की बोई ?
मेरा रक्षक नहीं दिया दिखलाई अब तक ?
खड़ी रहूँ मैं हाय ! यहाँ पर यों ही कब तक ?

(३६)

"मानव होते सभी एक-से कभी नहीं हैं ;
बीज एक है, वृक्ष एक-से सभी नहीं हैं।
बतलाए हैं कई शास्त्र ने उनमें अंतर ;
किंतु ज़रा भी नहीं यहाँ तो भेद परस्पर।

(३७)

"किसके गल में आज मंजु माला को डालूँ ?
ऐसी स्थिति में अहो ! किस तरह प्रण को पालूँ ?
वृद्धजनों से सुने हुए सुर-चिह्न जानती ;
बीसो बिसवा और उन्हें मैं सत्य मानती।

(३८)

"किंतु एक भी नहीं यहाँ मिलता है उनमें ;
ये हैं सभी समान वेश, वय और प्रगुण में।
यह निर्जर-करतूत, देव माया है ऐसी ;
नहीं आज तक सुनी और देखी है जैसी।"

(३९)

इतना मन में सोच हृदय में कर प्रणाम को—
वह यों कहने लगी उसी सुर-वृंद-वाम को—

"हे नाथों के नाथ ! आपके हाथ सभी कुछ ;
कर सकते हैं आप कभी क्या, और कभी कुछ ।

(४०)

"क्षीणा मैं हो गई, हो गई हूँ मति-हीना ;
जीवन-धन के विना व्यर्थ है मेरा जीना ।
कर करुणा इसलिये कष्ट को मिटा दीजिए ;
अवसर को पहचान नीति की रीति कीजिए ।

(४१)

"दिव-मराल क्या तुच्छ बकी से मिल सकते हैं ?
अमरबेल पर अमर वृक्ष क्या खिल सकते हैं ?
दुग्ध-पालिता को न चाहते सुधा-पीत जो ;
मर्त्या को क्यों ग्रहण करेंगे मृत्यु-जीत जो ?

(४२)

"विष्णु-वदन-उत्पन्न महीसुर वंदनीय हैं ;
उनके भी तो देव सदा से पूजनीय हैं ।
क्षत्रिय-जाता सुता काम की उनके कैसे ?
उसके प्रेमी कभी न होते निर्जर ऐसे ।

(४३)

"मैं अबला हूँ और सुता के तुल्य तुम्हारी ;
उससे यह अनरीति आपने भली विचारी !
है अयोग्य यह कार्य, सुधे ! हे जन-भय-हारी !
कहाँ आप-से देव, कहाँ मैं तुच्छ कुमारी !

(४४)

"जगत-जनक हैं आप सदा से, और रहेंगे ;
फिर कन्या के हेतु दुःख को क्यों न सहेंगे ?

रखने उसकी लाज छद्म को दूर करेंगे।
उसका भीषण कष्ट कृपा कर क्यों न हरेंगे?

(४५)

"सुनकर खग के वचन जिन्हें परिवरण किया था;
जिनको निज सर्वस्व उसी क्षण सौंप दिया था।
कैसे सकती छोड़ उन्हें अब मैं कुल-अबला;
होती है जो सदा प्राण-पण से प्रण-प्रबला।

(४६)

"है विरुद्ध यह बात सर्वथा सती-धर्म के;
क्यों मैं कलुषित बनूँ लिये इस पाप-कर्म के?
है मेरा कर्तव्य पालना पहले प्रण को;
अंतर्यामी आप देखिए मेरे मन को।

(४७)

"जिस पर चित्रित चिह्न हो रहा उनका केवल,
रसना जिनका नाम जप रही प्रतिपल नल-नल।
उनके पाए बिना स्वर्ग भी मुझको सूना,
और त्रिलोकी-राज्य दुःख-दायक है दूना।

(४८)

"बस समेटिए आप अलौकिक माया को अब,
सुंदर अवसर यही और फिर आवेगा कब?
आप करेंगे दिव्य रूप निज-निज धारण जब,
जान सकूँगी प्राणनाथ नैषध को मैं तब।"

(४९)

सुनकर करुणा-जनक भीमजा के वचनों को—
मन में महती दया आ गई उन देवों को।

उसका जान महान प्रेम केवल नल ही में ;
खलबल-सी मच गई खूब ही उनके जी में ।

(५०)

करने लगे विचार परस्पर फिर वे निर्जर—
"भैमी के मन, वचन, बुद्धि नल में हैं तत्पर ।
पहनावेगी कभी न यह पर को जयमाला ;
है यह सच्ची सती उच्च क्षत्रिय-कुल बाला ।

(५१)

"ठीक नहीं अब अधिक सताना इस कन्या को ;
देना कुछ वरदान चाहिए इस धन्या को ।
होकर हम दिक्पाल सती का धर्म मिटाते ;
सबसे बढ़कर मर्त्य-लोक में पाप कमाते ।

(५२)

"अब करने से देर बात सारी बिगड़ेगी ;
जो कलंक का शीघ्र शीश पर टीका देगी ।
खोल हमारी पोल हमें बदनाम करेगी ;
बचा-खुचा भी मोल मान का और हरेगी ।

(५३)

"यह नल के अतिरिक्त किसी को नहीं वरेगी ;
अपने प्रण को और सर्वथा पूर्ण करेगी ।
है रमणी-आदर्श उचित ऐसा ही होना ;
पाकर स्त्री का जन्म नहीं तो वृथा डुबोना ।"

(५४)

देवनाथ, जलनाथ, अग्नि को और काल को—
करना पड़ा प्रनष्ट शीघ्र फिर कपट-जाल को ।

अपना-अपना रूप कर लिया सबने धारण,
सती, सुंदरी और अधीरा भैमी-कारण।

(२५)

उसने फिर पहचान लिया चारो देवों को,
देख-देखकर स्पष्ट, शास्त्र-वर्णित* चिह्नों को।
थे वे सब अस्वेद, स्तब्ध थे लोचन उनके,
थे मल-धूलि-विहीन वदन अघ-मोचन उनके।

(२६)

मालाएँ अम्लान देव-तरु के पुष्पों की—
करती थीं छवि-वृद्धि कांत उनके कंठों की।
छाया-धरणी-स्पर्श-हीन ही वे बैठे थे;
नहीं वायु से दिव्य वस्त्र उनके उड़ते थे।

(२७)

उनके बाईं ओर भव्य आसन † पर भू पर—
दिखलाई फिर दिए वहाँ उसको नल नृप-वर।
थी कुम्हलाई हुई कंठ में उनके माला;
पड़ता था प्रतिबिंब भूमि पर और निराला।

(२८)

स्वेद-कणों का जाल झलकता हुआ निरंतर—
होता था यों ज्ञात भाल पर महा मनोहर—
मानो थे द्युतिमान सुधाधर-अर्ध-भाग पर—
हेल-मेल से खेल-खेलकर सुधा-बिंदु वर।

---

* महाभारत के अनुसार ही लक्षण लिखे गए हैं। † नल का सिंहासन पृथ्वी से लगा हुआ था।

(५९)

स्वर्ण-पट्ट-सम कांति-युक्त गंगा-तट ऊपर—
राजहंस-अवतंस सुप्त थे अथवा सुंदर ।
या पय-सागर-अर्ध-भाग पर थे अति उज्ज्वल—
सुरपति के गजराज-भाल के वर मुक्ता-फल ।

(६०)

निमिष-युक्त थे नेत्र नील नीरज-वर मद-हर ;
मृग-किशोर थे देख जिन्हें होते चंचलतर ।
नलिन-नयन बन मदन रदन था स्वयं दबाता ;
जिन्हें देखकर शोक-सदन-सम वदन बनाता ।

(६१)

थे विचित्र वे, किंतु नहीं था उनमें अंजन ;
तो भी अंजन-युक्त नेत्र-मद करते गंजन ।
उड़ते थे नभ-ओर देखकर जिनको खंजन ;
और निरंजन *-नयन-सदृश थे वे मन-रंजन ।

(६२)

पुष्प-मुकुट से गिरी हुई रज सौरभ-वर्धन—
थी विभूति के सदृश पुरंदर-गर्व-विमर्दन ।
गंध-मुग्ध अलि-वृंद-पंक्तियाँ महा मनोहर—
भव्य भुजग-सम ज्ञात हो रही थीं बन धूसर ।

(६३)

चंदन-रेखा भृकुटि-मध्य विधु-सम अनुपम थी ;
शोणित-मलयज-बिंदु भाल-लोचन के सम थी ।
ऐसे नल-त्रिपुरारि उमा-कर-कमल-ग्रहण-हित—
थे मानो सुर-वृंद जनेती-सहित वहाँ स्थित ।

---

* विष्णु के नयनारविंदों के समान लोकाभिराम ।

(६४)

नल के पावन वस्त्र पवन से कंपमान थे ;
तन पर उड़कर इधर-उधर यों छवि-निधान थे,
मानो देख समीप उमा को क्रोधित होकर—
बहा रही हो तुंग तरंगें गंगा शिव पर ।

(६५)

या विरहानल-शांति-हेतु तन-कांति-सुधा-सर—
दमयंती से उमड़ रहा था तप्त स्वपति पर ।
पट-कंपन-मिस बना प्रेममय हो खिलता था ;
अथवा नल से अनिल बाँह भर-भर मिलता था ।

(६६)

बहुत दिनों की विरह-व्यथा को मानो हरने—
भैमी का सौंदर्य देखकर ईर्षा करने—
अपने से भी अधिक रसवती मान उसे वह—
कांति-वसुमती और अलौकिक जान उसे वह—

(६७)

करके नल-पद-स्पर्श भूमि यह बता रही थी—
हूँ मैं तेरी सौत, बात यह जता रही थी ।
अथवा अपना प्रेम उसे वह दिखा रही थी ;
या सुंदर स्त्री-धर्म-कर्म को सिखा रही थी ।

(६८)

नल के गल में हार श्वेतमणि-गण का सुंदर—
होता था यों ज्ञात भीमजा को अति सुखकर,
मानो सप्त महर्षि मधुर पीयूष पान-हित—
वदन-सुधाकर-निकट हुए हैं आकर शोभित ।

(६९)

या नल का सुउदार हृदय रूपी रत्नाकर—
करता था उत्पन्न रत्न बहुमूल्य, मनोहर।
अथवा चौदह लोक-कीर्ति होकर एकत्रित—
मणियों का वर वेश किए थी उर पर राजित।

(७०)

या पावन पति-प्रेम प्रिया दमयंती के प्रति—
उनकी महा पवित्र चित्र की शुद्धि और गति—
स्थान-न्यूनता देख रत्न-गण का मिस लेकर—
झलक रही थीं खूब हृदय से आकर बाहर।

(७१)

ऐसी शोभा देख स्वपति की भीम-कुमारी—
वरमाला के साथ, उसे थी जो अति प्यारी,
आगे बढ़ी सहर्ष प्रतिज्ञा पूरी करने;
नल को पहना उसे कष्ट को अपने हरने।

(७२)

उस पर लिया जमाव जमा लज्जा ने आकर;
और बढ़ा संकोच साथ में हाथ बढ़ाकर।
था कुछ-कुछ भय उसे देखकर पास सुरों को;
किंतु हर्ष ने हरा दिया था इन * तीनों को।

(७३)

आकर नल के पास समादर-सहित भक्ति से—
उसने अपने हाथ उठाकर स्वानुरक्ति से—
उनके गल में महा मनोहर जयमाला को—
पहना दी दसचार लोक-शोभा-शाला को।

---

* लज्जा, संकोच और भय।

(७४)

वरण हुआ पति देख नारियों और नरों ने—
'साधु-साधु,' यों कहा प्रेम से देववरों ने।
बजने लगे मृदंग, शंख, भेरी, सहनाई ;
दुंदुभियों पर और लगी फिर पड़ने घाई।

(७५)

दी आशिष अभिलषित द्विजों ने उन दोनों को ;
सुंदरियों ने छेड़ दिए सुंदर गीतों को।
भीम-प्रिया ने किया अयाचक वंदिजनों को ;
भीमराज ने लुटा दिया धन विप्र-गणों को।

(७६)

भूषित भूप उदास किए अपने वदनों को—
छवि-हत हो चल दिए शीघ्र निज-निज सदनों को।
कुंडिन में सब ओर महा आनंद छा गया,
मानो तनुधर मोद वहाँ हो स्वयं आ गया।

(७७)

आपस में अति प्रीति देख दोनों की सच्ची—
अपने सम्मुख निरख जुगल जोड़ी को अच्छी—
बोला नल से इंद्र—"आप आदर्श भूप हैं ;
और जगत के बीच दूसरे विष्णु-रूप हैं।

(७८)

"स्वार्थ छोड़कर सभी हमारे श्रेष्ठ दूत बन—
किया आपने कठिन कार्य जो हो प्रहृष्ट मन—
उसकी महिमा करूँ भला मैं आज कहाँ तक—
पहुँच सकेंगे नहीं शेष भी सत्य वहाँ तक।

(७९)

"हे नल ! इससे आज बहुत ही हर्षित होकर—
मैं ये दो वरदान * आपको देता सुंदर।
मेरे दर्शन स्पष्ट यज्ञ में तुम पाओगे;
होकर जीवन-मुक्त स्वर्ग सीधे जाओगे।"

(८०)

कहा अग्नि ने—"मुझे जहाँ तुम जब चाहोगे,
उसी समय साक्षात वहाँ मुझको पाओगे।
मेरी कांति-समान लोक देता हूँ उज्ज्वल;
भोगो, बिलसो इन्हें सर्वदा सुख से हे नल !"

(८१)

पाक-शास्त्र-चातुर्य, धर्म में दृढ़ता संतत,
ये वर उनको दिए काल ने अपने अभिमत।
और अंत में कहा वरुण ने प्रमुदित होकर—
"किया हमारा कार्य स्वार्थ को तुमने खोकर।

(८२)

"इससे मेरी जहाँ करोगे तुम इच्छा जब,
वहाँ शीघ्रतम प्रकट स्वयं ही मैं हूँगा तब।
नंदन-वन के महादक्ष वन-पालक-निर्मित—
है यह माला कल्पवृक्ष-पुष्पों से विरचित।

(८३)

"देता हूँ मैं इसे आपको होकर हर्षित;
जो सदैव अम्लान रहेगी और सुगंधित।"
आठो ये वरदान उन्हें अत्युत्तम देकर—
दमयंती से लगे इस तरह कहने निर्जर—

* महाभारत के अनुसार आठो वरदान लिखे गए हैं।

(८४)

"हे पुत्री ! पति-भक्ति और प्रण देख तुम्हारा—
आज महान प्रसन्न हो रहा चित्त हमारा।
देते हैं हम तुम्हें इसलिये दो वर सुंदर।
हो जाओगी महामुदित तुम जिन्हें प्राप्त कर।

(८५)

"यह पातिव्रत सदा तुम्हारा अटल रहेगा ;
सती-शिरोमणि सदा तुम्हें त्रैलोक्य कहेगा।
जो सतीत्व को कभी नष्ट करने आवेगा ;
वही तुम्हारे अतुल * तेज से जल जावेगा।"

(८६)

इस प्रकार वरदान हर्ष से उसको देकर—
पल में अंतर्धान हो गए चारो निर्जर।
वे विमान में बैठ चल दिए स्वर्ग-लोक को ;
बैठा करके और चित्त में महाशोक को।

(८७)

उधर भीम ने पूज्य पुरोहित को बुलवाकर—
धर्म-शास्त्र-अनुसार श्रेष्ठतम लग्न दिखाकर—
नल के साथ विवाह कर दिया दमयंती का,
जिससे हलका भार हो गया उसके जी का।

(८८)

कुंडिनपुर में लगा ज़ोर से उमड़-घुमड़ने ;
अद्वितीय आनंद-सिंधु बाँसों ही चढ़ने।
जिसके अंदर सभी ज़री के तंबू, डेरे,
थीं मानो उत्तुंग तरंगें पुर को घेरे।

---

* इस वर के प्रभाव से आगे एक व्याध जला दिया जायगा।

(८९)

नर-नारी थे रत्न, क्षुद्र थलचर थे जलचर ;
नाग-उष्ट्र थे मत्स्य, वाजि थे मीन कांति-धर ।
श्रेष्ठ, सरस संगीत-शब्द सुखदायक, सुंदर—
था तरंग-रव रम्य महागंभीर-धीरतर ।

(९०)

नाविक, दासी, दास और नावें थीं रथ-वर ;
मोद-प्रेम रस-मिलित नीर था उसके अंदर ।
इस सागर को दिया देखकर शुभ वेला* को—
सेना-वेला-सहित भीम ने नल राजा को ।

(९१)

रख लेते जा भीम नगर में बहुत दिनों तक—
इस अनुपम आनंद सिंधु को, तो संहारक—
इसका आता शीघ्र पिपासा-पीड़ित होकर—
जिसे महर्षि अगस्त्य सभी कहते हैं नर-वर ।

(९२)

इससे उसका किया समर्पण उसने नल को,
जान गया था क्योंकि अलौकिक वह नल-बल को ।
है समर्थ † सब तरह आज मेरा जामाता—
था उसको विश्वास चित्त में यह सुखदाता ।

(९३)

चले निषध की ओर सिंधु को नल फिर लेकर—
याचक-गण को वस्त्र और भूषण-धन देकर ।
दर्शनीय सब स्थान प्रिया ने उन्हें दिखाए ;
जिसमें मृगया-क्षेत्र बहुत-से प्रिय ने पाए ।

---

* समय, किनारा, तट । † जो अगस्त्य को भी पराजित कर सकता है ।

(६४)

करके वे विश्राम शांति से और हर्ष से—
पहुँचे निषध-समीप अलौकिक समुत्कर्ष से।
जिसे * देखने देव विमानों पर फिर चढ़कर—
नभ में आने लगे हर्ष को मन में भरकर।

(६५)

होता था यों ज्ञात मिलेंगे आज परस्पर—
दो अतुलित आनंद-सिंधु सीमा को तजकर।
सागर-संगम को न किसी ने देखा भू पर;
आए थे बस यही सोचकर देव वहाँ पर।

(६६)

एक दिवस फिर शुभ मुहूर्त में सुंदर समारोह के साथ—
पहुँच गए निज जन्मभूमि में भैमी-सहित निषध-नरनाथ।
उन दोनो का देख-देखकर रहन-सहन अतुलित उत्कर्ष—
सारे प्राणी यों कहते थे—"राजा-रानी ये आदर्श।"

---

* नल-वैभव और दमयंती को।

नवाँ सर्ग

(१)

समाचार सुन सुखद निषध के सब नर-नारी—
नल-दर्शन के लिये लगे करने तैयारी।
घर-घर होने लगी सजीली ख़ूब सजावट—
पट-पुष्पों के साथ और वर-विविध बनावट।

(२)

अगवानी के लिये पुरुष तो आगे भागे—
बालक चलने लगे और उनके भी आगे।
कर सोलह शृंगार अलौकिक-कांति-धारिणी—
गेहों पर जा चढ़ीं स्त्रियाँ रति-गर्व-हारिणी।

(३)

लाल, गुलाबी, पीत पटों से गुंठित होकर—
उनके सुंदर वदन सोहते यों सद्मों पर—
रंग-बिरंगे पद्म नियम का कर उल्लंघन—
मानो विकसित हुए मेरु-शृंगों पर पावन।

(४)

या चतुरों के चारु चित्त में चुभनेवाली—
जो विरही के लिये बनेंगी काली व्याली—
ऐसी श्रेष्ठ सकोष स्वर्ण की छुरियाँ स्मर ने—
की थीं मानो खड़ी रमा-रंभा-मद हरने।

(५)

सुंदरियों ने छेड़ दिए फिर गान सुरीले—
थे जो सुंदर, सभ्य और तालों से कीले।
जिनको सुन, बन कृष्ण, कोकिला लगी डोलने;
वाणी - वीणा और बेसुरी लगी बोलने।

(६)

भूप-सवारी लगी पास जब उनके आने—
लाज-कणों को लगीं शीघ्र तब वे वर्षाने।
इनकी विपुला वृष्टि दृष्टि को हर लेती थी;
जन के मन में और भाव ये भर देती थी।

(७)

मानो वर्षा रहीं अप्सराएँ अति सुंदर—
सुरभित सुमन-समूह स्वर्ग - सुमनस - नायक पर।
या पुर - नारी - प्रेम सुपावन और अचंचल—
लाज-रूप में प्रकट भूप पर होता पल-पल।

(८)

या नल-भैमी-कांति स्पर्श योजन का कर-कर—
खीलों का मिष लिए लौटती थी फिर उन पर।
जो रमणीगण नहीं सुयश को यों लौटाता—
तो उनका सौंदर्य एक पल में खो जाता।

(९)

नल-दमयंती-सुयश सकल संसार - धवलकर—
कर सकता था नारि-कचों को पल में सिततर,
किंतु वस्त्र को खींच लिया था उनने मुख पर,
वृद्धा का भ्रम अतः हो न पाया था उन पर।

(१०)

पीली, लाल, गुलाल, गुलाबी रंग मनोहर—
इन सबका उपयोग परस्पर मानव कर-कर—
गए सवारी-साथ राजप्रासाद-निकट फिर ;
देवालय को लजा रहा था जो मणि-मंदिर।

(११)

सिंह पोल पर लगे हुए थे मंगलकारी—
केले के दो वृक्ष मनुज-मुनि-मानस-हारी।
था भैमी-सौभाग्य-महीरुह तनु धारण कर—
हरा-भरा बन वहाँ खड़ा था महा मनोहर।

(१२)

पुष्प-राशि रनवास-बीच नभ से गिरती थी—
जो मुद-वन घन* पुष्प बिंदुगण-सम लगती थी।
नारि-मयूरि-प्रमोद देख जिसको बढ़ता था—
मानस-मानस और नीर पाकर चढ़ता था।

(१३)

नल-माता-मन-जलधि-मध्य आनंद-वीचि-गण—
वदन-चंद्र-युग देख वृद्धि पाता था क्षण-क्षण।
प्रलय-भीति से खींच रही थीं साड़ी सुंदर—
विधु को ढकने वधू सास को पास जानकर।

(१४)

निज माता से बार-बार नल आशिष पाकर—
कर उपचार-समाप्ति शीघ्र फिर आए बाहर।
किया शासनारंभ नीति से ऐसा सुंदर—
मुग्ध हो गए जिसे देखकर नीति-निपुण नर।

---

* जल।

(१५)

मन में महा प्रसन्न, प्रसन्ना* भैमी होकर—
गई सास के पास थकावट अपनी खोकर।
शीश नवा सप्रेम हुई सेवा में तत्पर;
बातें करने लगी नम्रता से फिर सुंदर।

(१६)

यद्यपि दासी-दास कई थे वहाँ उपस्थित—
तदपि बनाए भोज्य स्वयं उसने हो हर्षित।
हुई महान प्रसन्न सास उनको भक्षणकर;
बोली उससे—"वधू, बने ये स्वादु मनोहर।"

(१७)

इस प्रकार प्रतिदिवस बनाती थी वह व्यंजन;
गुरुजन का पति-सहित सदा करती मन रंजन।
दोनो की निज शीश सदा आज्ञा कर धारण—
करती थी वह काम प्रफुल्लित रखकर निज मन।

(१८)

कई प्राकृतिक दृश्य बनाकर सुंदर-सुंदर—
सुर-नर-खग-पशु-चारु-चित्र चित्रित कर, कर, कर—
चित्र-कला-चातुर्य सदा वह दिखलाती थी—
निज सखियों को, और उसे† वह सिखलाती थी।

(१९)

प्रासादों में सदा स्वच्छता वह रखती थी।
हस्त-कला में लगी हुई ही वह रहती थी।
गायन-विद्या उसे बहुत उत्तम आती थी।
अपने इष्ट-समीप भजन भी वह गाती थी।

---

* स्मितपूर्वाऽभिभाषिणी। † चित्र-कला को।

(२०)

पति-सेवा को प्रथम धर्म वह सदा मानती ;
निज स्वामी को और ईश को तुल्य जानती ।
माता से भी अधिक सास का आदर करती ;
विना कहे ही दुःख दासियों का वह हरती ।

(२१)

अहंकार को छोड़, मोड़कर मद से मन को—
रखती थी वह मुदित प्रेम से परिजन-गण को ।
नहीं किसी को कष्ट कभी भी वह देती थी ;
पुर-नौका को सौख्य-सिंधु में वह खेती थी ।

(२२)

नल-माता के बहुत मना करने पर भी वह—
सेवा करती सदा प्रेम से बातें कह-कह ।
उसकी गुण-गण-कीर्ति सभी भूतल पर छाकर—
थी दिव में भी चली गई वर-वेष बनाकर ।

(२३)

छवि में रति-अवतार हमारी है यह रानी ;
मति में गिरा-समान उसे कहते थे प्राणी ।
पातिव्रत में उसे शिवा के सदृश जानते ;
लक्ष्मी-रूपा उसे सभी थे लोग मानते ।

(२४)

पाकर ऐसी वधू राजमाता थीं हर्षित ;
सारी सखियाँ देख उसे रहती थीं प्रमुदित ।
श्रेष्ठ स्वामिनी उसे मानकर गुण-गण-युक्ता—
आज्ञा-कारिणि-प्रजा सदा रहती मुद-युक्ता ।

(२५)

आनंदित ही सदा भूप-वर नल रहते थे;
उसको 'प्राणाधार, प्रिये' प्रतिदिन कहते थे।
लेती थी वह भाग राज के सब कार्यों में;
नई नहीं है प्रथा पाठको ! यह आर्यों में।

(२६)

अबलाओं ने यहाँ किए हैं काम कठिनतम—
बतलाते हैं धीर, वीर भी जिनको अनुपम।
रक्खा अपना मान, आन भी रक्खी अपनी;
हुई उन्हीं से धन्य, भव्य - भारत - भू-जननी।

(२७)

श्रीसीता का चरित कौन जन नहीं जानता—
है, उसको आदर्श कौन है नहीं मानता।
कौशल्या, कैकयी, सती - सावित्री, तारा—
है इनसे ही पूज्य हो रहा देश हमारा।

(२८)

सब कामों में बनी सहचरी वह रहती थी;
कठिन कर्म का कष्ट हर्ष से वह सहती थी।
था उसका सहवास सहायक नल को दूना;
लगता था बस उन्हें विना उसके सब सूना।

(२९)

करती थी वह उन्हें सुकर्मों में उत्साहित;
दुष्कृत्यों से सदा बचाकर रखती हर्षित।
होता था हित अधिक प्रजा का इससे संतत;
राजा-रानी क्योंकि उसी में रहते थे रत।

(३०)

स्थापित करके कई महाविद्यालय पुर में—
किया उन्होंने बुरी प्रथाओं का क्षय पुर में।
कीं सुविधाएँ कई, प्रजा-सुख-हेतु वहाँ पर—
होता था सब न्याय-नीति से काम जहाँ पर।

(३१)

महा प्रसन्न हुई भीमजा और खोलकर—
कन्याओं के लिये पाठशालाएँ सुंदर।
उपवन, कूप, अनूप धर्मशालाएँ उत्तम—
बढ़ते थे दिन-रात वहाँ पर ग्रीष्म-दिवस-सम।

(३२)

आर्थिक, धार्मिक और हुई सामाजिक उन्नति;
सभी तरह से सुखी देश-नर-नारी थे अति।
नल-भैमी को प्रजा प्रिया लगती थी सारी;
जाती थी जो स्वयं उन्हों पर वारी-वारी।

(३३)

नल राजा ने समय हर्ष के साथ बिताया;
राजधर्म को सभी तरह से खूब निभाया।
दिए ईश ने उन्हें रत्न दो अद्भुत, अनुपम—
गुण-स्वरूप में जो कि नहीं थे उनसे कुछ कम।

(३४)

इंद्रसेन था नाम पुत्र का महा मनोहर;
था कन्या का नाम इंद्रसेना अति सुंदर।
सब प्रकार से सफल हो गया नल का जीवन;
अपने ही अनुकूल प्राप्तकर सुता-पुत्र-धन।

(३५)

वे शिशुओं के साथ बिताते थे दिन सुख के;
पास आ गए किंतु दिवस थे उनके दुख के।
यद्यपि उनका प्रेम नित्य था बढ़ता जाता;
उनके सुख को तदपि काल था प्रतिदिन खाता।

(३६)

यहाँ * किसी का समय एक-सा बना न रहता;
सुखी मनुज भी कभी कष्ट है भीषण सहता।
फिरते रहते सदा चक्रवत जग में सुख-दुख;
आती बाधा कभी न मग में इनके सम्मुख।

(३७)

जो नर रोता ख़ूब आज बन महादुखी है;
हो जाता कल वही इंद्र के सदृश सुखी है।
सुख में होकर आज दीन पर जो हँसता है;
वही मनुज कल स्वयं जाल में जा फँसता है।

(३८)

वीर-भाव को महा शौर्य से जो दिखलाता,
क्रुद्ध काल को और युद्ध-विद्या सिखलाता,
ऐसा भी रणधीर पराजय कल पाता है;
बच्चों † के भी और हाथ से बँध जाता है।

(३९)

जो महलों के बीच देखते सुख का सपना—
होता उनको कठिन कभी फिर पल भी अपना।
जो जन बन आपन्न हज़ारों कष्ट उठाते—
वे ही सुख का मुकुट कभी हैं सिर पर पाते।

---

* इस असार संसार में। † लव-कुश ने अहिनुमान को भी बाँध लिया था।

(४०)

जिनके कर से आज दान में रत्न बरसते—
दाने-दाने हेतु कभी वे हाय ! तरसते।
फिरते हैं जो आज माँगते भीख घरों में—
हो जाते हैं गण्य-मान्य वे कभी नरों में।

(४१)

जिस वन में कल-कंठ बोलती मीठे स्वर को,
कुंज-पुंज में मनुज जहाँ रटते हरि-हर को,
वहाँ धूलि के मेघ वायु से कभी उड़ेंगे;
पथिक लोग भी उधर भूलकर नहीं मुड़ेंगे।

(४२)

जहाँ कहीं भी नहीं दृष्टि में जल आता है—
कभी वहाँ पर स्वच्छ सरोवर भर जाता है।
हैं जिस भू पर आज बस रहे नगर मनोहर—
कभी विहग भी नहीं उड़ेंगे उस पर होकर।

(४३)

जन को जीवन-मुक्त कभी जो कर देते थे—
और महा अज्ञान ज्ञान से हर लेते थे—
वे ही * मानव आज चित्त-निर्बलता-कारण—
होकर के परतंत्र हथकड़ी करते धारण

(४४)

जो मानव इस काल शक्तिशाली होकर के—
सता रहे हैं आज निर्बलों को धन हरके—
कर देंगे वे दीन कभी काला मुख उनका;
हर लेंगे वे शस्त्र-हीन भी सब सुख उनका।

---

* भारतवासी।

(४५)

जिन पर कभी असभ्य लोग शासन करते थे;
चाट-चाटकर रक्त सौख्य जिनका हरते थे।
आज समय का फेर, भला जो बली महा है—
भूमंडल का राज्य उन्हीं को सौंप रहा है।

(४६)

करते थे जो कभी सभी पृथ्वी का शासन—
मिलता घर में है न उन्हीं को आज सुखासन।
कहलाते थे कभी पूज्य जो सबके गुरुवर—
नीचों के भ' आज हो गए हैं वे किंकर।

(४७)

समय बड़ा बलवान नहीं वीरों से डरता;
अबला, बालक, वृद्ध किसी पर दया न करता।
करता कहीं उजाड़, कहीं पर रास रचाता;
कठ-पुतली की तरह सभी को नाच नचाता।

(४)

नल का सुख का समय बीतने पर जब आया—
शीघ्र भाग्य ने तभी एक फिर पलटा खाया।
यद्यपि सभी अदृश्य रूप मे ही होते थे;
तदपि आंतरिक सौख्य-हर्ष को नल खोते थे।

(४९)

जिन देवों ने उन्हें कभी निज दूत किया था—
वरदानाष्टक महा मुदित हो और दिया था—
वे जब होकर बिदा स्वयंवर से आते थे—
व्योमयान में बैठ स्वर्ग को जब जाते थे—

(५०)

उसी समय में मिले उन्हें कलि-द्वापर आते—
ठाट-बाट से चढ़े बढ़े भ-सम्मुख जाते।
उनका ऐसा वेग और असमय में जाना—
देख इंद्र ने गुप्त भेद कुछ इसमें माना।

(५१)

आकर उनके पास यथोचित कर प्रणाम * को—
पूछा उनसे—"आप जा रहे कौन धाम को?
क्या है ऐसा काम, शीघ्रता क्यों है ऐसी?
मैंने देखी नहीं आप दोनो में जैसी।"

(५२)

कलि ने कहा—"सुरेंद्र! स्वयंवर को जाते हैं;
दमयंती को अभी स्वर्ग में हम लाते हैं।
उस पर मोहित महा हो रहे हैं हम ऐसे—
होता है अति मुग्ध कुंडली मणि पर जैसे।"

(५३)

"सुनो कले! हो गया स्वयंवर।" कहा शक्र ने—
"किया हताश महान हमें भी काल-चक्र ने।
जाकर के अब भला वहाँ क्या आप करेंगे?
जूँठी पातल चाट-चाट क्या पेट भरेंगे?"

(५४)

कंपित स्वर से कहा महा कलि ने घबराकर—
"क्या सचमुच ही कहो हो गया अहो! स्वयंवर?
उसने † किसके हाय! गले में माला डाली?
क्या मेरा यह कंठ रहेगा यों ही ख़ाली?"

---

* उपहास करने को नमस्कार किया। † दमयंती ने।

(२५)

हँसकर बोला इंद्र—"रहेगा यों ही ख़ाली;
उसने नल के साथ प्रतिज्ञा अपनी पाली।
जिस पर होकर मुग्ध किया था उसने प्रण को—
निभा दिया है उसे लगाकर उसमें मन को।"

(२६)

हो विस्मित अत्यंत कहा कलि ने झुँझलाकर—
"प्रभु के रहते हुए हुआ अन्याय वहाँ पर।
नर को उसने वरा छोड़कर निर्जर अनुपम!
नल में ऐसी बात बताओ क्या थी उत्तम?"

(२७)

"था उसका अनुराग अटल केवल नल ही में;
यही बात है मुख्य, प्रेम होना ही जी में।
है जिससे अति प्रीति, वस्तु वह भले बुरी हो,
पर प्रेमी को सदा ज्ञात वह बहुत भली हो।

(२८)

"नैषध तो गुणवान, अलौकिक रूपवान थे,
शक्तिवान, बलवान और अति बुद्धिमान थे।
साध्वी ऐसे योग्य पात्र को क्यों छोड़ेगी?
अन्य मनुज के साथ गाँठ वह क्यों जोड़ेगी?"

(२९)

यह सुन कलि के दुष्ट हृदय में दाह लग गई;
और क्रोध की अग्नि धधकती हुई जग गई।
जिसकी ज्वाला नेत्र-काच से दीख रही थी;
जिससे मुख की कांति दहकना सीख रही थी।

(६०)

करके लोचन लाल, काल से मुख को खोला—
हो अति कोपाविष्ट वचन ये कलि फिर बोला—
"किया दंड के योग्य काम भैमी ने स्वामी!
अपराधी है महा नीच वह नल भी कामी।

(६१)

"क्यों माला को भला किया स्वीकृत उस नल ने?
क्या पहनी है उसे कोप-पावक में जलने?
मेरा दाहक क्रोध भस्म कर सकता पवि को—
जलने में क्या देर लगेगी मानव-छवि को?

(६२)

"मनुज-वरण का मज़ा चखाऊँगा भैमी को—
तभी मिलेगी शांति प्रज्वलित मेरे जी को।
सिखलाऊँगा प्रेम उसी प्रेमी को करना—
किस प्रकार है देव-योग्य कन्या को हरना?"

(६३)

"कले! कुपित क्यों हुआ, बात यह अनुचित तेरी;
उसने नल को वरा मानकर आज्ञा मेरी।
थे हम चारो वहाँ उपस्थित सभा-भवन में—
सती भीमजा जहाँ रही थी पक्की प्रण में।

(६४)

"देवाज्ञा कर प्राप्त प्रतिज्ञा अपनी पाली—
है उसने फिर श्रेष्ठ कंठ में माला डाली।
क्या है नल का दोष उसे स्वीकृत करने में?
क्या भैमी-अपराध, योग्य वर को वरने में?

(६५)

"है निगमागम-शास्त्र-विज्ञ, जो अचल धर्म में,
है अतीव जो दक्ष श्रेष्ठ-नृपनीति-मर्म में,
रहते हैं सुर तृप्त यज्ञ में, घर में जिसके,
हैं सब सुख-जल-पूर्ण देश-सागर में जिसके—

(६६)

"ऐसे नृप को कले ! सताना ठीक नहीं है;
भू पर ऐसा भूप दूसरा नहीं कहीं है।
ऐसे को जो मूढ़ शाप सहसा देता है—
वह उसका फल शीघ्र आप भी पा लेता है।

(६७)

"अपने को ही शपित किया है उसने जानो।
अपने को ही मार रहा अपने से मानो।
इससे हे कलिदेव ! क्रोध को शांत कीजिए।
उनको कुछ वरदान आप भी और दीजिए।

(६८)

"बात गई सो गई, हो चुका है जो होना—
तुम, हम सारे देव खो चुके हैं जो खोना।
क्यों फिर ऐसे आप बखेड़ा बढ़ा रहे हैं ?
क्यों नभ तक निज भौंह इस तरह चढ़ा रहे हैं ?"

(६९)

ऐसा कह चल दिए सुरों के साथ इंद्र फिर;
और मित्र के सहित चला कलि कर नीचा शिर।
नल राजा को लक्ष्य बना वह उतरा भू पर—
दृश्य देखता हुआ मार्ग में महा मनोहर।

(७०)

उसको बातें कहीं बहुत-सी उस द्वापर ने ;
किए अनेक उपाय कोप को उसके हरने ,
पर मानी ने नहीं एक भी मानी उसकी ;
ज्ञानी द्वापर ने न चाल पहचानी उसकी ।

(७१)

कलि बोला—"मैं नष्ट राज नल का कर दूँगा ;
सब कुछ करके हरण शीघ्र अब बदला लूँगा ।
मित्र ! कभी अन्याय नहीं मैं सह सकता हूँ ;
तुझसे पूरा भेद नहीं मैं कह सकता हूँ ।

(७२)

"अलग-अलग कर उन्हें दुःख मैं प्रतिदिन दूँगा ;
उनके धन, जन और मान को भी हर लूँगा ।
उन दोनो को ठीक प्रेम का तभी पड़ेगा—
जब उनके अति दीर्घ विरह का व्याल लड़ेगा ।

(७३)

"दे सहायता मुझे आज तू महा कर्म में ;
समझ गया तू है कि नहीं इस गुप्त मर्म में ?
हृदय जलाती खूब अग्नि ईर्षा की मेरा ;
ऐसा ही बस हाल देखता हूँ मैं तेरा ।"

(७४)

कलि ने उसके यही चित्त में बात जमाकर—
कुंडिन को प्रस्थान कर दिया शीघ्र अनंतर ।
पहुँच वहाँ षड्यंत्र रचे फिर गुप्त रूप से ;
किंतु पराजय मिला उसे नल वीर भूप से ।

(७५)

कई युक्तियाँ गढ़ीं फँसाने उन्हें जाल में;
नहीं एक भी चली, रहे वे उसी हाल में।
किए उपाय अनेक दाँव पर उन्हें चढ़ाने;
नहीं एक भी पार पड़ा निज हर्ष बढ़ाने।

(७६)

अपना-सा मुख लिए नहीं वे बैठ गए, पर—
उद्यम करते रहे ख़ूब वे वहाँ निरंतर।
कष्ट-मुक्त, उपयुक्त ढूँढ़ते थे वे अवसर;
किंतु दृष्टि-गत हुआ एक भी नहीं लाभकर।

(७७)

है सबसे उद्योग बड़ा यह सही जानिए;
कठिनाई का पिता और गुरु इसे मानिए।
मार्जारी के पास नहीं है महिषी सुंदर—
उद्यम से वह दूध-मलाई खाती दिन-भर।

(७८)

कपट से किस तरह नल को हराया दुष्ट भ्राता ने—
सहे थे कष्ट फिर क्या-क्या निषध-नर-नारि-त्राता ने—
इसी की है कथा आगे, दिनों का फेर दिखलाने—
स्त्रियों को भीम-तनया के चरित से सीख सिखलाने।

दसवाँ सर्ग

(१)

मित्र बनाकर पुष्कर को, कलि नलागार में करके वास—
लगा ढूँढ़ने अवसर उनकी शुद्ध बुद्धि का करने ह्रास।
कुछ वर्षों के पीछे उसको मिला एक उत्तम अवकाश—
जो नल के धन और मान का कर देगा अति शीघ्र विनाश।

(२)

हो अपवित्र * एक दिन नल ने, डाले विना पदों पर अंभ—
ले केवल आचमन कर दिया संध्योपासन का आरंभ।
इसी समय मायावी कलि ने निज माया-बल से निःशेष—
शीघ्र अपावन चरणों द्वारा नल शरीर में किया प्रवेश।

(३)

वहाँ पूर्ण अधिकार जमाकर, फिर पुष्कर के गया समीप;
और लगा कहने वह उसको इस प्रकार से—"हे कुल-दीप!
देर नहीं अब ठीक, कपट के इन पासों को लेकर आप—
जाकर द्यूत खेलिए नल से, नष्ट कीजिए मन-संताप।

(४)

"ऐसे-वैसे नहीं, किंतु हैं ये द्वापर से निर्मित अक्ष—
कर देंगे जो जयी आपको आज आपका करके पक्ष।
रत्ती-भर भी झूठ नहीं है इन वचनों में हे नर-दक्ष!
बीसो बिसवा नल हारेंगे मित्र! आपके आज समक्ष।

---

* लघुशंका करके।

(५)

"पण के लिये मानिए मुझको एक बैल बल-बुद्धि-निधान—
अभी आपके पीछे-पीछे शीघ्र करेगा जो प्रस्थान।"
ऐसी बातें सुनकर पुष्कर गया निषध-नायक के पास—
कपट-जाल में उन्हें फँसाने और विभव का करने नाश।

(६)

आता हुआ देख बांधव को नल हर्षित हो गए महान ;
मिले बाँह भर-भरकर उससे, होकर खड़े किया सम्मान।
बिछुड़े हुए बंधु को आया हुआ देखकर अपने गेह—
मन का मोद प्रकट करती थी रोमांचित हो उनकी देह।

(७)

कुशल-प्रश्न के पीछे उसने कहा निषधपति से, "मनुजेश !
द्यूत खेलने में हैं मुझसे हार गए सब-के-सब देश।
नहीं आज तक कहीं किसी ने पाया है जय मुझ पर तात !
है मेरे वृष-पण को जीता नहीं किसी ने कभी बलात।

(८)

"इसी विषय में प्रभो ! आपकी ख़ूब प्रशंसा सुनकर आज—
आया हूँ मैं लेकर सारे द्यूत खेलने के ये साज़।
या तो हार मानिए, अथवा आप खेलिए मेरे साथ ;
अब न विलंब कीजिए, मेरी यही विनय है मानव-नाथ !"

(९)

कहा उन्होंने—"अब तक मैंने नहीं किसी से मानी हार ;
तुम ही कहते स्वयं 'आपको है इस पर पूरा अधिकार।'
क्यों फिर स्वीकृत करूँ पराजय, यह न बुद्धिमानी की बात ;
संभव है, मैं जय पा जाऊँ, और हार जाओ तुम तात !"

(१०)

इतने पर तो रोप दिया फिर उसने वहाँ कपट का जाल—
और बिछाकर सुंदर चौसर लगा खेलने वह तत्काल।
कौन हटा सकता था उसको, छटा हुआ था पुष्कर क्रूर—
और दूसरे उन पासों में भरा हुआ था छल भरपूर।

(११)

बढ़ने लगा चित्त में नल के अपनी जय का लोभ अपार ;
और साथ में कुछ चिंता भी बार-बार निज हार निहार।
यह जीता, अब के जीतूँगा, फिर से खेलूँ अब की बार—
उठने लगे हृदय में उनके इसी तरह के कई विचार।

(१२)

काम-काज को छोड़ खेलने लगे द्यूत ही वे दिन-रात ;
थी इसके अतिरिक्त न उनको अच्छी लगती कुछ भी बात।
भैमी उनको यों समझाती, "हे मेरे प्राणों के प्राण,
द्यूत कभी मत आप खेलिए, है यह सब दोषों की खान।

(१३)

"नाथ ! जालसाज़ी से तुमको हरा रहा है पुष्कर दुष्ट ;
चालाकी प्रत्यक्ष देखकर आप हो रहे क्यों संतुष्ट ?
देकर ध्यान देखिए इनको, हैं ये पासे छल का मूल ;
ये न अभी तक एक बार भी पड़े आपके हैं अनुकूल।

(१४)

"आप महा धर्मात्मा होकर करते हैं यह निंदित कर्म ;
सच्चे क्षत्रिय कहला करके छोड़ रहे हैं अपना धर्म।
सारे मंत्री, विप्र, महाजन, पुरवासी भी और अनेक—
नीचे बैठे हैं, वे प्रभु से विनय चाहते करना एक।

(१५)

"पहले इनकी सुनिए स्वामिन्! हैं वे उत्सुक दर्शन-अर्थ;
 है आवश्यक कार्य उन्हें कुछ, वे न यहाँ आए हैं व्यर्थ।
कोषाध्यक्ष-पत्र तो पढ़िए, है जिसमें यह लिखा सुजान!
 सारा कोष हो गया ख़ाली, था जो धन-मणि-रत्न-निधान।"

(१६)

स्वामी के पद पकड़ ज़ोर से भैमी रोने लगी निदान;
 गद्गद वाणी से फिर बोली—"सुनिए मेरी दया-निधान!
अनुनय-विनय मानकर मेरी अब न खेलिए जूआ आप;
 बहुत हो चुका, अब न समय है देने का मुझको संताप।"

(१७)

इन बातों का कुछ भी नल पर नहीं प्रभाव पड़ा उस काल;
 क्योंकि देह-गत कलि ने उनका कर रक्खा था ऐसा हाल।
उसकी नम्र विनय होती थी इस प्रकार से उनको ज्ञात—
 मानो यह * कहती है मुझको द्यूत खेलने को दिन-रात।

(१८)

मंत्री-गण के समझाने से पड़ता था प्रतिकूल प्रभाव;
 कहना था बस लवण लगाना जले हुए पर करने घाव।
जैसे कभी न चिक्कण घट पर स्थित रहता जल-बिंदु-प्रपात—
 वैसे ही नल-हृदय-पटल पर नहीं ठहरती थी वह बात।

(१९)

भव्य भीमजा के सब भूषण और अलौकिक अपने शस्त्र—
 हार गए नल, इससे रक्खे पण पर फिर अपने सब वस्त्र।
तब भैमी ने श्रेष्ठ सूत को बुलवाया दासी के हाथ;
 सुनकर सारा हाल हो गया उसी समय वह उसके साथ।

---

* दमयंती।

(२०)

उसने उससे यही कहा फिर—"प्राणनाथ के प्यारे सूत !

हे वार्ष्णेय ! देख ले तू भी महा दुष्ट पुष्कर-करतूत ।

उत्तम अश्व जोड़कर रथ में ला जल्दी से वहाँ सुजान !

जहाँ खड़े हैं सारे मंत्री हो करके अति शोक-निधान ।

(२१)

"मेरी आज्ञा कहकर उनसे, परामर्श कर और निदान—

इन दोनो बच्चों को ले तू कुंडिन को कर जा प्रस्थान ।

वहाँ रथादिक छोड़ इन्हें भी पहुँचा मेरे पिता-समीप—

यथाकाम* कर काम वहीं, या और कहीं जा हे कुल-दीप !"

(२२)

"जो आज्ञा", यों कह रथ लाया मंत्री-आज्ञा को कर प्राप्त—

कुंडिनपुर की ओर चल दिया चिंता से वह होकर व्याप्त ।

वहाँ पहुँच उनको सम्हलाकर, ले भीमाज्ञा, जोड़े हाथ ;

आप गया ऋतुपर्ण भूप के, था जो श्रेष्ठ अयोध्यानाथ ।

(२३)

उधर क्रोध के मारे नल ने पूरी करने अपनी टेक—

रक्खे पण पर महा मनोहर हय, स्यंदन, गज, रत्न अनेक ।

उनको भी पुष्कर ने जीता, रीता करके उन्हें नितांत—

कहने लगा विहँसकर उनसे करने को अवशिष्ट सुखांत—

(२४)

"द्यूत खेलने का जो तुझको हे नल ! है अब भी कुछ चाव—

तो तू मन को दृढ़कर रख दे दमयंती का ही बस दाव ।

या तू अपने प्राण बचाकर कर जा और कहीं प्रस्थान ;

यहाँ न होगा किसी तरह से अब कुछ भी तेरा सम्मान ।"

---

* निज इच्छाऽनुसार ।

(२५)

महा कठोर गिरा को सुनकर कुपित हो गए नल निष्पाप ;
किंतु दिनों का फेर देखकर रहना पड़ा उन्हें चुपचाप।
अपने आप रह गईं उनके मन-की-मन में सारी बात ;
बुझा चुका था कोप-वह्नि को क्योंकि महा चिंता-जल-पात।

(२६)

उसको उत्तर दिया न कुछ भी, किंतु खड़े होकर उस काल—
चले गए मंदिर के बाहर निषध देश के श्रेष्ठ नृपाल।
सुनकर भैमी के वचनों को, मान सभी अपनी ही भूल ;
कहने लगे—"प्रिये ! हूँ मैं ही इन सारे कष्टों का मूल।

(२७)

"बना-बनाया बानिक बिगड़ा, किए-कराए पर भी आज—
पानी फेर दिया मैंने ही स्वयं सजाकर ऐसे साज।
पछताने से अब क्या होगा, जब कि चुग चुकीं चिड़ियाँ खेत ;
लूटा है पुष्कर ने पल में करके मुझको आज अचेत।"

(२८)

एक वस्त्र-परिवेष्टित नैपध करते हुए अनेक विचार—
चलने लगे मार्ग में अतुलित सहते हुए कष्ट का भार।
साधारण साड़ी को पहने, होकर शोकाकुला महान—
दमयंती करती थी उनके पीछे-पीछे बस प्रस्थान।

(२९)

पाद-पद्म वह पटक रही थी इधर-उधर उन्मत्त-समान ;
नल की मनोव्यथा का उसको किंतु हो गया था कुछ ज्ञान।
उसने कहे पास आकर के वचन वीरता के अभिराम—
"करो शोक मत नाथ ! हाथ को पकड़े हुए साथ घनश्याम।

(३०)

"भव-भक्षक वन क्या कर लेगा, जब रक्षक हैं अपने राम ;
वाम-नाश कर देगा उनका मुक्तिधाम-शुभ-नाम ललाम।
चिंता आप वृथा करते हैं, व्यर्थ भीत होते हैं, ईश!
त्राण उदर में करनेवाला नहीं सो गया है जगदीश।

(३१)

"जो भगवान चोंच देता है वही चुगा भी देगा नाथ!
हर्ष-सौख्य देनेवाला ही दुःख पड़े पकड़ेगा हाथ।
राज-विभव, धन-धाम, धरा तो दो दिन के होते मतिमान!
नश्वर को कर नष्ट आप क्यों करते हैं फिर उसका ध्यान?

(३२)

"जो देता, वह ले भी लेता, देता है लेनेवाला।
वही नाथ है लेनेवाला, जो सबको देनेवाला।
हमें डुबानेवाला ही तो है हमको खेनेवाला।
जनिता-सम ताड़न भी करता माता-सम सेनेवाला*।

(३३)

"है जो नर को भूप बनाता, वही भिखारी करता है ;
महाशोक-चिंता जो देता, वही क्लेश को हरता
नहीं दूसरा कोई जग में, कर्ता-धर्ता एक वही—
और वही है भर्ता-हर्ता, है यह बिलकुल बात सही।

(३४)

"होनहार से हार सदा है, इसकी लीला अपरंपार—
हार गले में कभी डालता, कभी छीनता यह आहार,

---

* पालन-पोषण करनेवाला।

पर जो नर-वर मन में रखते जगदीश्वर पर हैं विश्वास—
वे इसकी पर * सभी कैंचकर इस पर † को भी करते दास।

(३५)

"रोम-रोम में रमता जिनके है ब्रह्मांड-समूह अपार—
स्नेह-सूत्र में बँधनेवाले हैं जो अक्षय करुणागार—
वे न रूठने कभी चाहिए, बस इसका ही रखिए ध्यान—
और सभी रूठें तो रूठो, टूठो ‡ किंतु एक भगवान।

(३६)

"हो जावें प्राणारि भले ही अभी सभी भूतल-भूपाल—
राघव रक्षक हैं, तो अपना वे न करेंगे बाँका बाल।
हार-जीत होती है यों ही, करते हो क्यों इसका शोक?
सुख-दुख यों ही आते-जाते, इन्हें न सकता कोई रोक।

(३७)

"चिंता करने का न समय है, रचो चिता चिंता-हित आप;
वही हुआ जो लिखा भाग्य में, इससे व्यर्थ सभी संताप।
होनी तो होगी ही, इसमें वश किसका है रूप-निधान!
बीती को तो भूल आप अब आगे की सुध लो गुण-खान!

(३८)

"जगदीश्वर जो कुछ करता है, उत्तम ही करता है, नाथ!
सुख देकर वह दुःख झेलना हमें सिखावेगा रह साथ।
जो यह दशा न वह दिखलाता, तो सुख-महिमा-गरिमा-अर्थ—
कहिए, कैसे आप और मैं हो सकते थे आज समर्थ?

(३९)

"बीती हुई सभी बातों को भूल-भालकर दृढ़ता-युक्त—
आप कष्ट को नष्ट कीजिए हो करके चिंता-भय-मुक्त।

---

* पर, पंख। † शत्रु। ‡ संतुष्ट होना, प्रसन्न रहना।

शोक-सहन की शक्ति-हेतु मैं हरि से करती विनय विनीत ;
है विश्वास, करेंगे प्रभु वे आशा से न कभी विपरीत ।

(४०)

"हे जगदीश्वर ! सब बतलाते नाम आपका दीन-दयालु—
हम दोनो-से दीन कहाँ हैं, आज आप ही कहो, कृपालु * !
या तो कृपा कीजिए, अथवा छोड़ दीजिए अपना नाम ;
किंतु आप उसको न तजेंगे, हमें करेंगे सुख के धाम ।

(४१)

"किसी वस्तु की चाह नहीं है, और नहीं है कुछ भी आह !
राज-पाट छिन जाने की भी हमें नहीं कुछ भी परवाह ;
किंतु आपकी कृपा-दृष्टि में नहीं कोप का हो आभास—
बस इसके ही हम इच्छुक हैं और यही हमको विश्वास ।

(४२)

"धन-दौलत हम नहीं चाहते, नहीं मोक्ष-इच्छा भगवान !
पर हम दोनो हाथ जोड़कर माँग रहे हैं यह वरदान—
प्रभु के पावन-पद-पद्मों का पीते रहें प्रेम-मकरंद—
भक्ति-गंध से अंध-सदृश बन दोनो के मन-मधुप अमंद ।

(४३)

"धस जावे चाहे यह धरणी, फट जावे चाहे आकाश,
टूट पड़ें चाहे चपलाएँ करने आज हमारा नाश,
किंतु हमारे मन-मानस से नहीं कभी भी हटना आप—
होकर हंस तैरना उसमें जब तक रहे हंस † का ताप ।"

(४४)

भैमी की वाणी सुनकर के नल का चित्त हुआ कुछ शांत ;
किंतु अभी दुर्भाग्य-शत्रु का वे न कर सके थे प्राणांत ।

---

* संस्कृत में कृपालो होता है । † सूर्य ।

पुष्कर-दुष्ट-अन्न-भक्षण से हमें लगेगा पाप महान—
ऐसा मान तीन दिन तक वे रहे निषध में कर जल-पान।

(४५)

उधर जीत करके पुष्कर ने निज भ्राता का राज समस्त—
और द्यूत-अस्ताचल पर कर नल-प्रताप-सविता का अस्त—
घोर घोषणा यह कर दी थी—"जो कोई नल का सत्कार—
कभी करेगा, तो है उसके दंड-हेतु शूली तैयार।"

(४६)

ऐसी घोर घोषणा सुनकर सभी मनुज हो गए अधीर;
आर्तनाद प्रारंभ कर दिया भर करके नयनों में नीर।
नल की दशा देख चिंतित थे निषध-देश के सारे लोग;
फीके लगने लगे उन्हें फिर नल के बिना सर्व-सुख-भोग।

(४७)

महाभयंकर दुष्टाज्ञा से होकर प्रिया प्रजा भयभीत—
नहीं कर सकी साहस कुछ भी करने का उसके विपरीत।
इससे नल का नहीं कहीं भी किसी प्रकार हुआ सत्कार;
मान-योग्य का हुआ निरादर, हरि की लीला अपरंपार।

(४८)

गोपनीय ही रक्खा सबने मनोव्यथा को मन के बीच;
सबको काल-सहोदर-जैसा लगता था वह पुष्कर नीच।
चौर-भामिनी-सम सब घर में अश्रु बहाते थे चुपचाप;
कोई कुछ भी नहीं कर सका पाकर के अतिशय संताप।

(४९)

मनमानी-घरजानी करके दुख फिर देने लगा महान—
योग्य प्रजा को पुष्कर प्रतिदिन, दीन-पालना का तज ध्यान।

थोड़े ही दिवसों में उससे प्रजा हो गई सब प्रतिकूल ;
शासन ही है क्योंकि नृपों के प्रिय-अप्रिय होने का मूल ।

(५०)

उधर भीमजा नल दोनो ही शीघ्रतया चलकर दिन-रात—
करके पार राज-सीमा को, तीन दिवस के फिर पश्चात—
पहुँचे एक मनोहर वन में महाबुभुक्षा से हो व्याप्त—
क्योंकि तीन दिन तक कुछ भोजन नहीं हुआ था उनको प्राप्त।

(५१)

एक सघनघन-तरु के नीचे वहाँ हो गए वे आसीन—
और परस्पर लगे देखने अपना-अपनी दशा सुदीन।
नल ने कोमल दमयंती के पदपद्मों की ओर निहार—
कहा यही गद्गद होकर के अति कायर नर के अनुसार—

(५२)

"मेरी महामूढ़ता से ही चला गया है अपना राज—
और उसी के कारण तेरी दशा हो गई ऐसी आज।
लगती थी जिन मृदु चरणों को सरसिज-शय्या महा कठोर—
हैं वे ही भूधरमय भू पर भोग रहे कष्टों को घोर।

(५३)

"जिनकी द्युति सित-मणि-अंगण की आभा को करती थी रक्त—
कमल मानकर जिन पर अलि-कुल रहता था सदैव आसक्त—
वे ही पद व्रण-युक्त हो गए इसमें किसका दोष निदान—
प्रिये ! सर्वथा तू मुझ ही को इसका दोषी एक बखान।

(५४)

"जिन्हें देखकर स्वर्ण-शैल भी पड़ जाता था पीत महान—
और प्राप्त रसता को करता लज्जा से हिम *-राशि-निधान—

* उच्चता-ईर्षालु हिमालय।

वे ही ये उरोज देते हैं, आज शिथिलता का क्यों साथ ?
जिनको ऊँचा किया, उन्हें तो करो न तुम नीचा हे नाथ !

(५५)

"फिरते जिधर उधर ही करते जो कमलों की वृष्टि अपार,
देवों को भी भला जिन्होंने कभी किया था चितागार ;
ऐसे नेत्र हो गए लोहित महारुदन का सहकर भार,
प्रभो ! कोप क्यों ऐसा करते होकर के तुम करुणाधार ?

(५६)

"जो मुख चारु चंद्रिका से भी बन जाता था मलिन महान—
जिसको देख कुमुद होते थे दिन में भी शोभा की खान—
उसे आज संतप्त कर रहा ग्रीष्म-सूर्य-किरणों का जाल—
फेर समय का कैसा पटका है मायावी त्रिभुवन-पाल !

(५७)

"जिसकी देह-दीप्ति के सम्मुख काम-कामिनी की भी कांति—
फीकी पड़कर दर्शक-मन मे करती थी उत्पन्न अशांति—
वही प्रभा अब मंद हो गई सहकर के कानन-संताप।
अबला को भी भला इस तरह दुःख दे रहे भगवन् ! आप।

(५८)

"अधिक क्या कहूँ घट-घट-वासी ! आज आपके दासी-दास—
कैसे-कैसे कष्ट भोगकर छोड़ रहे हैं यों निश्वास !
जो-जो पाप किए हैं हमने, उनका फल देते हो आप—
इसमें क्या अपराध आपका, दोष हमारा ही निष्पाप !

(५९)

"प्रिये ! प्रियतमे ! हे दमयंती ! तेरा देख शोक का साज—
शिर-पीड़ा* से शीश-सदृश यह हृदय फटा जाता है आज।

---

* शिर-पीडा से जैसे शीश वैसे ही तेरा दुःख देखकर यह मेरा हृदय भी फटा जाता है।

तेरी व्यथा देखने को ही रक्खा उस अदृष्ट ने दुष्ट—
अब तक मुझको जीवित प्यारी ! क्योंकि इसी में वह संतुष्ट।"

(६०)

नल के अश्रु पोंछ साड़ी से कहा भीमजा ने—"हे नाथ !
कष्ट नहीं हो सकता कुछ भी मुझको इन चरणों के साथ।
श्रावण के जन्मे को जैसे हरा-हरा ही हो आभास—
उसी तरह सर्वत्र आपको प्रभो ! दीखता दुख का वास।

(६१)

"हे प्रिय ! मेरे निकट उपस्थित हैं आनंद-कंद जब आप—
आकर मुझे सता सकता है कहो कौन-सा तब संताप ?
हैं जो प्रभु को आज दीखते कहीं-कहीं चरणों में घाव—
नई नहीं हे नाथ ! बात यह, है इनका तो यही स्वभाव*।

(६२)

"स्त्री का हर्ष-शोक रहता है निज स्वामी-सुख-दुख के संग ;
स्वपति-विपति से कष्ट उसे है और सौख्य से महाउमंग।
मेरे प्राण-दान से भी जो मिट जावे यह क्लेश अपार—
तो हे प्रियतम ! उन्हे हर्ष से देने को हूँ मैं तैयार।

(६३)

"हे निष्पाप ! यही है विनती, अब न कीजिए अधिक विलाप ;
कायरता मन में न लाइए, पा करके कानन-संताप।"
नल-मन में उत्पन्न हो गई इन वचनों से वैसी शांति—
जैसी कुमुद-हृदय में करती शरद-पूर्णिमा-हिमकर-कांति।

---

* चरण तो चलने पर ऐसे हो ही जाते हैं।

(६४)

कई दिनों से नहीं मिला था उन्हें अन्न का दाना एक ;
करती थी उत्पन्न इसलिये देह-व्याधियाँ क्षुधा अनेक।
नल ने कहा—"ढूँढ़कर प्यारी ! लाता हूँ मैं कुछ आहार,
क्योंकि प्राणियों का इसको ही कहते सभी प्रधानाधार।"

(६५)

इतना कहकर खड़े हो गए, जाकर के उनने कुछ दूर—
देखा सुंदर एक सरोवर जल से भरा हुआ भरपूर।
तीव्र तृषा से आर्त्त उन्हें वह ऐसा ज्ञात हुआ अभिराम—
मानो अमर बनानेवाला है वह सुखकर-सुधा-सुधाम।

(६६)

उसके बस अवलोकन ही से होकर के श्रम-विगत नरेंद्र—
मन में कहने लगे—"यही है सर्व-लोक सुषमा का केंद्र।
है यह मोदानंददायिनी श्रेष्ठ वस्तुओं का सीमांत ;
काल-चक्र से बचा हुआ यह है सौख्यद नीराशय-प्रांत।

(६७)

"मैंने इसमें प्रथम किया है सुख-समाप्ति का साक्षात्कार ;
सभी प्रदर्शिनियों का मुझको यही दीखता है आगार।
प्रीति-जनक-वर-वस्तु-राशि की होती है यह सीमा ज्ञात ;
इसमें वह आनंद भरा है, जिसे ढूँढ़ते मुनि दिन-रात।

(६८)

"नयनों को प्रसन्न कर मन में भरता है यह महाउमंग ;
जिसकी देख परम छवि मुद से रोमांचित होता है अंग।
सित-मणि-गण-कैलास-हिमालय रसता को होकर के प्राप्त—
इसकी शीतलता-निर्मलता-वृद्धि-हेतु हैं इसमें व्याप्त।

(६९)

"मीन-मकर-कच्छप-लक्षण-युत-शंकर-श्वेत-शरीर-समान—
इसकी नीर-विपुलता पर भी चिह्न प्रकट हैं महिमावान।
शिव के कंठ-सदृश ही इसमें पय पीने आते हैं नाग * ;
क्रीड़ा करते हैं प्रनष्ट कर भव्य भूति-सम पद्म-पराग।

(७०)

"यमुना-सम तटस्थ वृक्षों से हैं इसमें हरि † क्रीड़ासक्त ;
नारायण के सदृश सदा ही हैं सब सुमनस इसके भक्त।
महाश्वेत होने पर भी यह है तमाल-छाया-से श्याम ;
भीम-जंतु-संयुक्त-भयानक होकर भी है यह अभिराम।

(७१)

"निर्जनता से यह नीरस है, पर एकांत-सरसता-युक्त ;
अलि-कुल-कलकल-सुललित-मुखरित है यह होकर शब्द-विमुक्त।
है तट-कर्दम मलिन, किंतु यह अंतर निर्मल नीर महान ;
यह रत्नाकर-समता पाकर है न चार-दश-रत्न-निधान।"

(७२)

यों विचार करते-करते ही नल ने देखे तीन विहंग ;
कनक-कांति को लजा रहे थे जिनके पक्ष और मृदु अंग।
"अरुण सूत को अरुण प्रभा या स्वर्ण बना करके अभ्यास—
विधि ने प्रथम किया है करने ऐसा अंडज-सृष्टि-विकास।

(७३)

"क्या अरुणोदय ने दे दी है इनको अपनी शोभा पूर्ण—
या इनकी रचना की विधि ने मरकत-मणियों का कर चूर्ण।
सब बातें हैं उत्तम, पर ये चार नहीं हैं, इसका खेद।
मुझे मुग्ध क्यों ये यों करते, है इसमें कुछ निश्चय भेद।

---

* हाथी और सर्प। † श्रीकृष्ण और वानर।

(७४)

'हो सघेर्ष्ट जो करूँ भला मैं इन छोटे विहगों का घात—
बक मारे छद * हाथ लगेगी, नहीं और कुछ होगी बात।
इससे उचित यही है मुझको इन्हें पकड़कर किसी प्रकार—
पुर में जाकर बेचूँ, जिससे भली भाँति होवे आहार।"

(७५)

उनकी प्राप्ति-हेतु फिर नल ने किया वहाँ कुछ समय व्यतीत,
किंतु युक्तियाँ विफल हुईं सब, हुए विहग उनसे न गृहीत।
हार सब तरह, खोल उन्होंने एक-मात्र अपना परिधान—
ठाक पक्षियों पर ही फेका ध्यान-सहित फिर उसे निदान।

(७६)

उस पट के पड़ते ही पक्षी उड़े उसे भी लेकर साथ;
खड़े रह गए विस्मित होकर अपना-सा मुख लिए नृनाथ।
दीन अधोमुख, दिग्वासस, उन भूस्थित नल से वचन कठोर—
कहने लगे विहंगम उड़कर उनको डाल कष्ट में घोर।

(७७)

"हैं हम तीनो अक्ष, मूढ़ नल! आए जो हरने तव वास;
हमें नहीं अच्छा लगता है तुझे देखना आज सवास।"
सुन ऐसी खग-वाणी को नल होकर मन में महा उदास—
पत्रों से लज्जा ढक अपनी आने लगे भीमजा पास।

(७८)

दिग्वासस होकर के वन में लगते थे ऐसे निषधेश—
मानो वे उपनयन-युक्त † हैं अन्य महेश, दिगंबर-वेश।

---

* बगुला मारे पंख हाथ लगते हैं। † उपनयन-सस्कार-युक्त और दूसरा अर्थ तीसरा नेत्र। रूपक।

मिलन

ऐसे नैषध ने जाकरके कहा भीमजा से सब हाल;

देख दुर्दशा निज स्वामी की लगी बिलखने वह तत्काल।

उसने शीघ्र दे दिया उनको कर साड़ी का आधा भाग,

और चित्त को शांत किया फिर कहकर वचन सहित अनुराग।

पत्राच्छन्न वहाँ होकर वे लगते थे ऐसे अभिराम—
मानो हरित कच्छ-परिवेष्टित वन के बीच राम* बलधाम।

(७९)

था तनु-तेज-कांति से उनकी प्रात-बाल-रवि व्रीडामान;
अग्निदेव की देह-प्रभा भी फीका लगती तेज-निधान;
विधु के अर्ध भाग-सम चम-चम चमक रहा था उनका भाल;
ऐरावत के कर-समान थे बाहु-दंड अति रुचिर विशाल।

(८०)

थे शोभित यों रोम वक्ष पर धारण करके श्यामल राग—
वदन-कमल-परिमल से खिंचकर आए अलि मानो वन त्याग।
अथवा मुख-पूर्णेंदु-उदय से शीघ्र बचाने अपने प्राण—
हृदय-व्योम से उतर रहा था मानो त्रिभुवन-तिमिर महान।

(८१)

या ज्वलंत जठराग्नि तीव्र से पाकर कलि अतिशय संताप—
तन से बाहर निकल रहा था जल-जल करके अपने-आप।
अथवा हरि-सम दीर्घ वक्ष पर लग जावेगी कभी कुदृष्टि।
यों विचार विधि ने ही मानो की थी कज्जल-रेखा-सृष्टि।

(८२)

ऐसे नैषध ने जाकर के कहा भीमजा से सब हाल;
देख दुर्दशा निज स्वामी की लगी बिलखने वह तत्काल।
उसने शीघ्र दे दिया उनको कर साड़ी का आधा भाग—
और चित्त को शांत किया फिर कहकर वचन सहित अनुराग।

(८३)

नल बोले—"जिसके प्रकोप से विभव-विहीन हुआ मैं आज—
प्रिये! प्रेरणा से ही जिसकी चला गया है अपना राज—

---

* बलराम।

उसने मेरा पीछा छोड़ा नहीं अभी तक है छवि - गेह !
उत्तम उसे प्रतीत न होता अपना अक्षय, सच्चा स्नेह।

(८४)

"प्राण-प्रिये ! दमयंती ! मैं तो सभी कष्ट सकता हूँ भोग,
किंतु नहीं देखा जाता है तेरे साथ विपत-संयोग।
मेरे लिये असंभव है यह तुझे देखना दुखी महान;
क्या है करना उचित तुझे अब कहता हूँ मैं वही निदान।

(८५)

"हैं ये मार्ग 'दक्षिणापथ' के, इधर 'अवंतीपुरी' विचित्र;
शैल दीखता 'ऋक्षवंत' यह, 'कौशलपुर' है उधर पवित्र।
है अचलाधर 'विंध्याचल' यह, नदी 'पयोष्णी' वह जल-पूर्ण;
हैं ये तपस्वियों के आश्रम कंद-मूल बहु फल-दल-पूर्ण।

(८६)

"यह 'विदर्भ' का मार्ग जहाँ का राजा तेरा पिता सुजान;
जो इंद्रोपम है भूतल पर, होकर वैभव-शक्ति-निधान।"
भैमी को कर लक्ष्य कहा यों नल ने उससे बारबार—
और खड़े हो-होकर उसको मार्ग बताए कई प्रकार।

(८७)

रोकर उसने यही कहा फिर—"हे मेरे प्रिय जीवन-नाथ !
आज छोड़ना चाह रहे क्यों आप पकड़कर मेरा हाथ ?
हृदय काँपता है अब मेरा, दुख पाते हैं सारे अंग;
इस विचार को सोच-सोचकर नष्ट हो गई सभी उमंग।

(८८)

"वित्त-रहित, हत-राज्य, प्रपीड़ित, क्षुधा-पिपासा-आर्त, महान—
ऐसे प्रभु को छोड़ यहाँ पर, कहाँ करूँगी मैं प्रस्थान ?

होने पर विश्रांत आपके श्रम को कर दूँगी मैं नष्ट—
और मानसिक चिंताओं को शीघ्र कर सकूँगी परिभ्रष्ट।

(८९)

"भगिनी-सम होकर के पत्नी कर सकती वन में शोकांत—
सखी-समान बनाती है वह जीवन-धन के मन को शांत।
भोजन-समय उसी को करते मातारूपा शास्त्र बखान;
शयन-भवन में कहते उसको सुखदा मन्मथ-नारि-समान।

(९०)

"जाया-सदृश आर्त मानव के नहीं दूसरी औषध श्रेष्ठ;
कहती हूँ मैं सत्य आपसे, इसे मानिए अब हे प्रेष्ठ!
मुझे चरण-दर्शन से वंचित कभी आप मत करना नाथ!
हाथ जोड़कर यही विनय है मुझे सर्वदा रखना साथ।"

(९१)

नल ने कहा—"प्रिये! मैं तुझको यही दिलाता हूँ विश्वास—
और वचन यह देता हूँ, तू * सदा रहेगी मेरे पास।
चिंता करो न इसकी प्यारी! थी यह एक हँसी की बात;
रक्खो हर्षित मुझे साथ में रहकर मेरे तुम दिन-रात।"

(९२)

ऐसे प्रण को सुन दमयंती लाई फिर कुछ फल-दल-मूल;
जिन्हें किया भक्षण दोनों ने प्रीति-सहित, निज रुचि-अनुकूल।
पी जल अमल एक वट नीचे लिया उन्होंने फिर विश्राम—
और सोचने लगे उचित है करना हमको कल क्या काम।

(९३)

सुप्ता भैमी देख कंटकाकीर्ण भूमि पर—
निज को कारण मान प्रिया-कष्टों का गुरु-तर—

---

* व्यंजना से—तू मुझे नहीं, किंतु मैं ही तुझे छोड़कर चला जाऊँगा।

सोचा नल ने छोड़ इसे मैं वन के अंदर—
किसी नगर में वास करूँ एकाकी जाकर—
ऐसा मन में ठानकर किया कार्य उनने यथा,
सुनिए अब कर दृढ़ हृदय, है आगे उसकी कथा।

ग्यारहवाँ सर्ग

(१)

दमयंती को देख प्रसुप्ता निर्जन वन में—
भर नयनों में नीर विचारा नल ने मन में—
"अल्प काल के लिये कष्ट को हरनेवाली—
स्वप्नों में सम्राट् मनुज को करनेवाली—
यह निद्रा भी धन्य है निज अद्भुत व्यवहार में—
सार-रहित होकर बनी सार-सहित संसार में।

(२)

"करती है यह सुखी थकावट तन की खोकर ;
मरती है यह नहीं मृत्यु की भगिनी होकर।
सोती है यह नहीं सुलाकर असुधारी को ;
देती यह साहाय्य अंत में असुरारी को।
सृष्टि*-सृष्टि-घन-जन्म-हित है सहायिका बस यही ;
इसे ब्रह्म के साथ में जीवित वेदों ने कही।

(३)

"धान्य, धरा, धन, धाम, दास, दासी, दरबारी,
माता, पिता, कुटुंब, मित्रवर, संपति सारी,

---

* योग-निद्रा में विष्णु ही संसार की रचना का विचार करते हैं। जिस प्रकार मेघों से जल की बूँदों की सृष्टि होती है, ठीक उसी प्रकार विष्णु के विचारों से संसार की भी रचना होती है; जिसे कार्य-रूप में ब्रह्मा लाते हैं।

काम - कामिनी - सदृश, सुंदरी, प्यारी नारी,
हाथी, घोड़े, सैन्य और सैनिक बलधारी—
हैं ये सब कुछ भी नहीं, मिच जाती है आँख जब ;
किंतु स्वप्न में अन्य ही दिखलाता है दृश्य तब।

(४)

"इसी दशा में पड़ी हुई है प्रिया हमारी—
कई दिनों से भूख-प्यास की मारी-मारी।
ऐसी सच्ची सती स्वपति को वन में तजकर—
जा सकती है नहीं कभी भी और कहीं पर—
इससे मैं ही छोड़कर जाता हूँ इसको अभी ;
हे देवो ! अब आप ही रक्षक हैं इसके सभी।

(५)

"पतिव्रता अपमान स्वपति का नहीं करेगी ;
होकर के वह सती सतीपन नहीं हरेगी।
ऐसा मन में मान तुझे मैं छोड़ रहा हूँ ;
बरबस मन को मोड़ वचन को तोड़ रहा हूँ।
प्रिये ! मिलेंगे फिर कभी, हरि ने जो मिलने दिया,
या होगा परलोक में शीतल यह अपना हिया।

(६)

"करना मुझको क्षमा, क्योंकि मैं दीन-क्षीण हूँ ;
मेरा क्या अपराध, आज मैं बुद्धि-हीन हूँ ?
जाता हूँ प्रियतमे ! सुखी तुम रहना मन में ;
सबके रक्षक राम सदन में, रण में, वन में।"
कहकर नल ये वचन फिर साड़ी आधी फाड़कर—
निर्जन वन में चल दिए निज नयनों में नीर भर।

(७)

जाकर के कुछ दूर दौड़कर नल फिर आए;
सुप्त प्रिया को देख चित्त में कुछ घबराए।
तीन बार यों किया मत्त-सम बनकर वन में;
अर्धरात्रि के बीच अंत में छिपे गहन में।
वे अरुणोदय - भ्रांति से लगे दौड़ने शीघ्रतर,
पर वह दावानल वहाँ फैल रहा था कष्टकर।

(८)

वायु*-मित्र से वायु मित्रता बढ़ा रहा था;
रक्त † हयों पर रंग और भी चढ़ा रहा था।
हव्य विना भी तृप्त हव्यवाहन होता था;
बृहद्भानु ‡ बन गर्व भानु का वह खोता था।
होता था यों ज्ञात तब, रही भूमि सबको जला—
अपने तन की अग्नि को खींच-खींच करके भला।

(९)

हरिणराज, गजराज, बाघ, भालू, मृग सुंदर,
सर्प, शृगाल, बिडाल बहुत-से और व्योमचर—
जल-विहीन पाठीन-सदृश अति व्याकुल होकर—
घूम रहे थे मत्त श्वान के सम रो-धोकर।
कई चढ़ गए भेंट थे अग्निदेव की पुष्पधर;
कई चूर्ण थे बन रहे हरे-भरे भूधर-निकर।

(१०)

ज्वाला-जाल विशाल धधकता हुआ वहाँ पर—
कई तरह के दिखा रहा था दृश्य भयंकर।

---

* अग्नि। † लपटे। लोहिताश्वो वायुसखा। इत्यमरः। ‡ अग्नि।

होता था वह ज्ञात प्रलय ही मानो आया,
आनन फ़ानन और सभी कानन में छाया।
संभव है पानीयमय अब के वह होगा नहीं;
पावकमय बन इसलिये फैल रहा है हर कहीं।

(११)

मुझको परिचित पुरुष नहीं कोई पहचाने;
साधारण ही मनुज मुझे जन सारे जानें।
पुष्कर के भी दूत नहीं नल मुझको मानें;
दमयंती भी देख मुझे कुछ और बखाने।
थे * सचेष्ट यों सोच नल वन को देने के लिये—
निज प्रताप की अग्नि को फिर से लेने के लिये।

(१२)

अथवा पति-विरहाग्नि भयंकर तन धारणकर—
ढूँढ़ रहा था भीम-सुता को वन के अंदर,
क्योंकि महान उदार उसी का हृदय सुकोमल—
रख सकता था उसे वज्रवत बनकर केवल।
इस कठोर, अति मृदुल भी सती-हृदय को धन्य है—
पावक † भक्षक जगत में ऐसी वस्तु न अन्य है।

(१३)

दावानल को निकट देख चिंता थी नल को;
युग-समान वे बिता रहे थे बस पल-पल को।
सुने उन्होंने शब्द—"उठाओ, मुझे बचाओ,
मेरी रक्षा करो, वीर नल! आओ-आओ।

---

* नल ने विचारा—"इस समय अपना प्रतापानल वन के हवाले कर दूँ, और सुदिन आने पर उसे फिर वापस ले लूगा।" † चिताग्नि, दुःखाग्नि, विरहाग्नि आदि अग्नियों के वेग को सहन करनेवाला।

हिल सकता हूँ मैं नहीं, जल जाऊँगा इसलिये—
शरणागत हूँ आप फिर, यहाँ खड़े हो किसलिये ?"

(१४)

"बोल रहा यह कौन" विचारा नल ने मन में—
"आई ऐसी गिरा कहाँ से निर्जन वन में ?
भैमी के अतिरिक्त मुझे अब कौन जानता ?
हैं ये उसके शब्द बात मैं यह न मानता।
तो भी मेरा इस समय आगे बढ़ना कर्म है;
शरणागत का त्राण भी कर्मवीर का धर्म है।

(१५)

"सता रहा है अग्नि दीन का क्षत्रिय-सम्मुख—
धिक् है मेरी देह और यह धिक् जीवन-सुख।"
ऐसा कहकर बढ़े वह्नि की ओर उछलकर—
देखा अपने पास एक फिर भीषण अजगर,
किंतु उठा सकते न थे वे उस गुरुतम नाग को—
और बुझा भी वे नहीं सकते थे उस आग को।

(१६)

नल की दशा विलोक सर्प ने मुख को खोला—
महाकठिनता-युक्त वचन ये उनसे बोला—
"होता हूँ अंगुष्ठ-मात्र मैं अभी यहाँ पर—
उठा लीजिए निषध-नाथ ! अब मुझे शीघ्रतर।
मैं कर्कोटक नाग हूँ, नारद के अभिशाप से—
भोग रहा हूँ कठिन फल पूर्व जन्म के पाप से।"

(१७)

सुनकर ऐसे वचन उठाया उसको पल में;
दौड़ दाव से गए दाव से वर्जित स्थल में।

कहा नाग ने—"चलो पदों को अपने गिनकर—
जिससे करूँ उपाय तुम्हारे लिये कष्टहर।"
सुन सुखदायक वचन ये जब नल ने वैसा किया—
तब उनको नागेंद्र ने दसवें पद पर डस लिया।

(१८)

डसते ही बन रूप-हीन वे दुखी हो गए;
विष-पावक का ताप सहनकर वहीं सो गए।
कहने लगे—"अकाल मृत्यु को कौन खो सके?
दमयंती से मिलन कभी अब नहीं हो सके।
रे हत्यारे! क्या किया तूने मेरे साथ में?
रे कृतघ्न! क्या आ गया है अब तेरे हाथ में?

(१९)

"मरता हूँ दमयंति! भीमजे! ललने! प्यारी!
मुझ-सा नीच न कहीं और तुझ-सी वर नारी।
जैसा मैंने किया पा लिया वैसा फल भी;
मुझे न देगा आज मृत्यु पर कोई जल भी।
किसी तरह भी भेंट अब हो न सके तुझसे यहाँ;
तू तो जाने है कहाँ, और प्रिये! मैं हूँ कहाँ!!

(२०)

"मेरी चिंता कभी स्वप्न में भी मत करना—
क्योंकि किसी के हाथ नहीं है जीना-मरना।
तुझे अंत में आज यही है मेरा कहना—
बड़े धैर्य के साथ सभी कष्टों को सहना।
कर उन दोषों को क्षमा हैं जो कुछ मैंने किए—
दे तू अब मुझको बिदा, सदा-सर्वदा के लिये।"

(२१)

दया-भरे सुन वचन कुंडली कुछ-कुछ हँसकर—
बोला—"मेरी बात ध्यान से सुनिए नृपवर!
क्यों करते हैं शोक आप बन मेरे रक्षक—
क्यों हरते हैं सुयश बताकर मुझे स्वभक्षक?
जैसे तुमने प्रेम से प्राण-दान मुझको दिया—
बस मैंने भी आपका वैसे ही हित किया।

(२२)

"मेरा यह विष विषम कई उपकार करेगा;
तनुवासी कलिदेव-सौख्य को नित्य हरेगा।
तुम पर गरल-प्रभाव किसी का नहीं पड़ेगा;
शत्रु तुम्हारे शीघ्र सामने आ पछड़ेगा।
यह कुरूप करके तुम्हें दुःख कभी देगा नहीं;
पहचाने जिससे न जन तुमको कोई भी कहीं।

(२३)

"देता हूँ दो वस्त्र, पहनना इनको तब तुम—
अपना असली रूप दिखाना चाहो जब तुम।
शोकाकुल मत फिरो भटकते हुए यहाँ पर;
रहो समुद्र ऋतुपर्ण-निकट ही अब तुम जाकर।
यह साकेत-नरेंद्र ही सब दुःखों को दूरकर—
तुम्हें अक्ष-विद्या-निपुण कर देगा हे भूपवर!"

(२४)

यों कह अंतर्धान शीघ्र फिर नाग हो गया;
नल का भी कुछ शोक हृदय से स्वयं खो गया।
किंतु भीमजा-चित्र सुचित्रित था जो मन पर—
आता था वह बार-बार नयनों के अंदर।

कानन में सोती हुई दीन सती के वेश में—
उन्हें दीखती थी भला भैमी गहन प्रदेश में।

(२५)

भू-पर फैला हुआ सुमनगण से कुछ ढककर—
लता-जाल यों उन्हें खूब लगता था सुंदर—
मानो पहने हुए अर्ध साड़ी को तन पर—
सोती है प्रियतमा अकेली वन के भीतर।
कभी-कभी वे लिपटकर लोल लता के जाल से—
अश्रु बहाते थे बहुत होकर के बेहाल-से।

(२६)

तरु - छाया - तम दूर - दूर से देख-देखकर—
मृग - तृष्णा में फँसे हुए मृग - सदृश शीघ्रतर—
दौड़-दौड़कर बहुत यही कहते वे वन में—
"ठहरो-ठहरो, क्षमा करो, सोचो निज मन में—
यों न बिखेरो विरह में शिरोरुहों को हे प्रिये!
यह सब कुछ परिहास था चिंता हरने के लिये।"

(२७)

आहट से जो मृगी दौड़कर आगे आती—
तो नल-मन में आग देख उसका जल जाती।
कहते थे वे—"उछल-कूद ले अभी कुरंगी!
अल्प काल पर्यंत और वन यहाँ तुरंगी,
पर तूने भैमी-नयन देख लिए हैं जो कहीं—
तो तू मृत हो जायगी होकर के लज्जित वहीं।"

(२८)

सुंदर सर में देख चंद्र - प्रतिबिंब मनोहर—
जो जाल - तुंग - तरंग - तरंगित - कंपित होकर—

यों लगता था उन्हें प्रिया जल-केलि कर रही--
गल तक जल में डूब विरह का ताप हर रही।
कहते थे वे इसलिये--"प्राण-प्रिये ! अब बस करो--
विरही पति के कष्ट को निज दर्शन देकर हरो।"

(२९)

चक्रवाक को देख अकेला विरह-सुपीड़ित--
वे निज को धिक्कार रहे थे होकर लज्जित--
"देखो, खग भी प्रिया विना दुख कितना सहते,
अधिक काल तक कभी वे न एकाकी रहते,
किंतु कहेगा सबल नर कौन मुझे संसार में--
आया है जो छोड़कर अबला को मझधार में।

(३०)

"पुष्पों को भी प्रिया विना मरना भाता है,
देखो नीरज-निकर कष्ट कितना पाता है,
क्योंकि नहीं है मित्र*-कीर्ति इस समय यहाँ पर--
है इससे यह बंद पूर्ण जल से भी होकर।
पर मैं भैमी से भला कई कोस अब दूर हूँ,
तो भी मैं मरता नहीं हा ! कैसा मैं क्रूर हूँ !!

(३१)

"सच है, मेरा हृदय वज्र से है कठोरतर--
कर सकता है तभी कार्य वह महा भयंकर।
निर्जर-योग्या, श्रेष्ठ सती, ऐसी ललना को--
सहसा ही यों सौंप छद्म से आज धरा को--
हा ! उसने† यह क्या किया, बलधारी होकर भला--
निर्जन वन में वेग से आया है वह यों चला !

---

* लक्षणा से सूर्य-ज्योति। † मेरे हृदय ने।

(३२)

"वन के सिंहो ! नींद छोड़कर धाओ-धाओ—
इस पापी की दुखी देह को खाओ, आओ।
हे ! गजराजो ! दूर, दूर से क्यों चिंघाड़ो—
इस विमूढ़ को शीघ्र यहीं पर आओ, फाड़ो।
हे सर्पो ! डसकर उसे * सुयश और अति पुण्य लो ;
सती सताने का यही उसको अब उपहार दो।

(३३)

'फट जा तू आकाश ! और प्राणों पर छा जा ;
घरर-घरर कर धसक धरा ! तू मुझको खा जा।
आ जा प्रलय-समीर ! शून्य में मुझे उड़ा जा।
आ जा नीरधि-नीर ! मुझे मझधार डुबा जा।
भस्म मुझे कर तेज तू तीव्र तेज अपना किए—
मैं अपराधी हूँ बड़ा, खड़ा हुआ तेरे लिये।

(३४)

"इंद्रदेव ! निज वज्र शीश पर मेरे डालो ;
कर दो मेरा चूर्ण यहीं पर हे दिक्पालो !
वायुदेव ! अब नाश-हेतु क्यों देर लगाओ ?
प्रलयंकर ! हे अग्निदेव ! तुम तो आ जाओ।
लाओ लोचन अरुण कर, वरुण ! आप निज-पाश को ;
तरुण-कुकर्मी को हरो, घोट करुण इस श्वास को।

(३५)

"चंद्र ! तुम्हारा नाम, सुधाधर झूठ सरासर ;
कहते हैं जो तुम्हें कलंकी, झूठे वे नर।

---

* अर्थात् मुझ पापी नल को।

क्योंकि आप विष-वृष्टि हर्ष से करते मुझ पर—
निज किरणों का जाल काल के सम फैलाकर।
गौरी-पति-पूजित प्रभो ! मेरे प्राणों को हरो ;
हितकारी होकर भला, भला आज मेरा करो।

(३६)

"अर्ध-रात्रि के बीच आप ही मेरे रक्षक ;
कर सकते हैं लाभ आप बन मेरे भक्षक।
अंधकार है जहाँ, सघन-घन-तरु - वर-कारण—
वहाँ फूँकिए मंत्र आप अब मुझ पर मारण।
थी जो जीवन की जड़ी, वही साथ में जब नहीं—
तो रखना चाहूँ प्रभो ! जीवन भी मैं अब नहीं।

(३७)

"कोचर *, कोक, उलूक और चमगादड़ झींगर—
जंबुक-सह मम मृत्यु-गीत गाते हैं सुंदर।
मुझ-जैसे ही चोर फिर रहे कहीं-कहीं पर ;
दुष्ट जनों को सता रहे हैं स्वप्न भयंकर।
सज्जन चिंता-हीन बन सुख की निद्रा सो रहे ;
कुलटाओं की कापुरुष कहीं बाट हैं जो रहे।

(३८)

"कहीं-कहीं पर मग्न ध्यान में स्थित हैं योगी ;
मंत्र-जंत्र को सिद्ध कहीं पर करते जोगी।
कहीं-कहीं निःश्वास ले रहे दुख से रोगी ;
भोग रहे हैं भोग कहीं पर लंपट-भोगी।
पशु-तरु-खग-मनुजादि पर, स्वर्ग-लोक की शांति-सम—
निद्रादेवी छा रही और गहन में गहनतम। —

* यहाँ से अर्ध-रात्रि का वर्णन है— छंद ४२ तक।

(३६)

"है सदैव यह 'काम' * बुद्धि को हरनेवाला,
मानव-मन में भाव भयंकर भरनेवाला।
होकर इसके वश्य तृप्त करने को जी को—
मृतक-देह पर बैठ तैरता पुरुष नदी को।
लंबा रस्सा मान वह वर्षा-पीड़ित नाग को—
चढ़ जाता प्रिय-गेह पर दिखलाने अनुराग को।

(४०)

"जो भय-भीता महा शिखी-रव से हो जाती;
देख सिंह का चित्र बुद्धि जिसकी खो जाती।
ऐसी रमणी पंचबाण के बाण सहन कर—
क्या-क्या करती नहीं समय यह पाकर सुंदर।
प्रिय से मिलने के लिये वह सब कुछ कर डालती—
लोक-लाज को, धर्म का नहीं ज़रा भी पालती।

(४१)

"कैसा है यह समय शांति-कर, मोद-विधायक;
देता है नक्षत्र-मध्य छवि रजनी-नायक।
उत्तर में सप्तर्षि और ध्रुव दमक रहे हैं;
पश्चिम में गुरु-शुक्र तेज से चमक रहे हैं।
अरुंधती भी दृष्टि में पति-सम्मुख है आ रही।
नभ-गंगा नभ-मध्य में कैसी शोभा पा रही!

(४२)

"चम-चम कर-कर अहो! करोड़ों तारे अनुपम—
होने से अति दूर ज्ञात होते हैं लघुतम।

---

* कामदेव। श्रीसूरदासजी की एक कथा से संबंध रखता है। यह स
कुछ अर्धरात्रि में हुआ करता है।

करते हैं ये प्रकट महामायामय-माया—
दूर-दूर से दिखा-दिखाकर अपनी काया।
दीख रहे आकाश में ऐसे-ऐसे हर कहीं—
चंद्र, भूमि यह भानु भी जिनके सम्मुख कुछ नहीं।

(४३)

"देख रहे हैं मुझे व्योम से सारे निर्जर—
मैंने सम्मुख किया इन्हीं के पाप भयंकर।
थी जो सच्ची सती उसी को आज सताया;
मैंने भी बन पुरुष, भला पुरुषार्थ दिखाया।
छाया का यह खेल सब हो न देव-माया विना;
काया मेरी व्यर्थ है जीवित उस जाया विना।

(४४)

"हाय! हुआ सो हुआ, शोक अब क्या है इसका;
जब उसको ही तजा सौख्य था मुझको जिसका।
सच्ची है यह बात, गात्र भी साथी किसका;
होनी हो, पर मनुज समाश्रय लेते मिष का।
प्रभो! कठिन-से-कठिन भी कष्ट मुझे देना सभी,
पर तुम मत करना उसे * दुखी स्वप्न में भी कभी।

(४५)

"अहो! पूर्व की ओर लगी फिर से दावानल;
पलट रहा संसार सामने मेरे पल पल।
अथवा प्राची दिशा तनिक-सी पीत हो गई,
या मम लोचन-ज्योति बुद्धि के साथ खो गई।
अथवा यह ब्रह्मा-रचित कोई नवल प्रकाश है,
या यह कोई देव के मुख का तेज उजास है।

---

* दमयंती को।

(४६)

"सुनता हूँ, धिक्कार रहे हैं मुझे व्योम-चर—
आते हैं ये मुझे देखने पशु भी उठकर—
शीतल - मंद - सुगंध - वायु आगे से बहता—
बार - बार जो मुझे कान में ऐसे कहता—
'अरे दुष्ट ! यह क्या किया, ऐसा अपयश सिर लिया—
प्रिया विना अब तक जिया, कैसा है तेरा हिया ?

(४७)

"'मैं भैमी के वदन-पद्म-सौरभ से सँदकर—
स्वेद और नेत्रांबु - पान से हो शीतल-तर—
तुझे देखने मूढ़ ! मंद गति में चलता हूँ ;
पाकर तुझे कृतघ्न बहुत ही मैं जलता हूँ।
यह मेरा आदेश है, स्पर्श न कर मेरा कभी—
जिससे भैमी और मैं नहीं अपावन हूँ अभी।'

(४८)

"है अरुणोदय-ललित-लालिमा रवि-कोपानल—
जला तिमिर का रही साथ मुझको भी प्रतिपल—
सुंदर - सुरभित - पद्म, सद्म होकर भी श्री के—
करते समता नहीं वदन की दमयंती के।
कोक परस्पर मिलन कर मुदित हुए जैसे अभी—
हर्षित हूँगा या नहीं, मैं भी वैसे ही कभी।

(४९)

"कुमुदिनि-नायक-अस्त जान कुमुदिनि-छवि सुंदर—
बतलाती है मुझे यही बस कम-कम होकर—
अबलाएँ पति - विरह - वेदना नहीं सहेंगी ;
जीवन-जीवन बिना सुखी भी वे न रहेंगी।

इनका सुमन सदैव है, सुमन-सदृश जब मृदुलतम—
तो अब भैमी की दशा क्या होगी रे नल! अधम।

(५०)

"पति-आगमन विलोक दिशा प्राची सज-धजकर—
शिक्षा देती मुझे यही है—'अरे दुष्ट नर!
है कितना पति-प्रेम सती के मन में रहता;
स्नेह-स्नेह का स्रोत न-जाने कितना बहता।
किसके पीछे देह का आज सजेगी भीमजा—
जब तू ही यों कूच का चला भला डंका बजा।"'

(५१)

उसी समय हय-शब्द अचानक नल ने सुनकर—
कहा देखकर खड़ा सामने स्यंदन सुंदर—
"जाकर देखूँ पास, कौन ये, क्या करते हैं—
क्यों निर्जन वन बीच विचरकर यों मग्न हैं?
रथ में तो है एक नर, एक भूमि पर सो रहा;
तीन अश्व तो ठीक हैं, रोग एक के हो रहा।"

(५२)

नर-पद-रव से चौंक रथी ने कहा जागकर—
"आता है यह कौन, मौन-युत मनुज यहाँ पर।
क्या है तू साकेत-दूत या अतिथि-सहायक?
मैं ही हूँ ऋतुपर्ण अयोध्या-नगरी-नायक।
मेरे लायक काम जो, कह उसको होकर निडर—
कब तक तू यों दूर ही खड़ा रहेगा जोड़ कर।"

(५३)

नल ने स्यंदन-निकट नम्र वंदन कर फिर से—
रघुनंदन* का किया शीघ्र अभिनंदन शिर से।

---

* ऋतुपर्ण।

कहा—"राजराजेंद्र ! नहीं धावन यह अनुचर—
पथिक-सहायक नहीं, किंतु है यह प्रभु-किंकर ।
निज चरणों में दीजिए आश्रय इसको आप अब—
यह सेवक तैयार है करने को आदेश सब ।

(२४)

"बाहुक* मेरा नाम, धाम है मेरा वन में ।
रुग्ण वाजि का शब्द अभी सुन गहन गहन में—
रहा न मुझसे गया, दौड़कर इससे आया—
हो सकती है ठीक अश्व की मुझसे काया ,
क्योंकि नहीं मुझ-सा कहीं हय-विद्या में निपुण नर ।
अभी परीक्षा कोजिए, आप भले ही भूप-वर !

(२५)

"पाक - शिल्प - संपत्ति - शास्त्र का हूँ मैं ज्ञाता ;
मुझ-सा सारथि नहीं दृष्टि में कोई आता ।
महा कठिन - से - कठिन कार्य भी मैं कर सकता ;
पशुओं के रोगादि मंत्र से मैं हर सकता ।
इससे मुझको शरण दो, शरणागत हूँ आपका ;
नाश कीजिए नाथ ! अब मेरे मन के ताप का ।"

(२६)

सुनकर बाहुक-विनय, सदय कुछ मन में होकर—
बोला फिर 'ऋतुपर्ण' उसे ये वचन मनोहर—
"हे नर-वर ! तू हुआ आज से सारथि मेरा—
मुद्रा एक सहस्र हो गया वेतन तेरा ।
कौशल तू अपना दिखा, स्वस्थ अश्व को कर अभी ;
जिससे तेरे शीघ्र ही पूर्ण मनोरथ हों सभी ।"

---

* महाभारत में इसकी कथा और प्रकार से लिखी गई है ।

(५७)

भूपाज्ञा कर प्राप्त, जड़ी - बूटी कुछ खाकर—
कूट - काटकर उन्हें, सभी अश्वों को पाकर—
जोता रथ में उन्हें, सूत को और जगाया—
दोनो को रथ-मध्य विनय से फिर बैठाया—
वेगवान सबको किया, पीड़ित को पीड़ा-रहित ;
देख महा जव को हुआ हर्षित नृप सारथि-सहित ।

(५८)

रथ-रव से हो गया निनादित कानन सारा ;
बहने लगी विचित्र व्योम में ध्वनि की धारा ।
रज के मेघ महान लगे उड़ने उस वन में ;
भय अतीव उत्पन्न हो गया प्राणी-मन में ।
विहग व्योम में चढ़ गए फर-फर करते भीति से ;
जलचर डरने लग गए, यान चला इस रीति से ।

(५९)

होती थी जो दूर दृष्टि-गत वस्तु वहाँ पर—
हो जाती थी पृष्ठ-भाग में वही शीघ्रतर ।
पादप, पर्वत, भूमि साथ में सब चलते थे ;
स्यंदन - वेग विलोक देव भी कर मलते थे ।
औषध-मंत्र-प्रयोग से स्वेद-कणों के जाल में—
फँसते थे अश्रांत हय, किंतु नहीं उस काल में ।

(६०)

महा मुदित ऋतुपर्ण बाण को तान कान तक—
उसे सिंह पर छोड़, बना फिर उसका मारक ।
शर-विद्या-चातुर्य दिखाया निभा धर्म को ;
प्रकटित उसने किया वीर के श्रेष्ठ कर्म को ।

क्योंकि कुटिल उस सिंह ने यत्न निरंतर थे किए—
एक दुर्बला गर्भिणी हरिणी के असु के लिये ।

(६१)

स्यंदन-रव से चौंक और उठ करके झट से—
उड़ी व्योम की ओर शोर कर सर के तट से—
निज अंडों को छोड़ एक जब हंसी विह्वल—
सूक्ष्मदृष्टि* तब एक चला पीछे से अविकल ।
उसको मारा भूप ने महा निपुणता से वहाँ
जिससे पल में हो सका उस दारा का क्षय नहीं

(६२)

यों मृगया-चातुर्य दिखाता हुआ भूप-वर—
पहुँच गया फिर समुद्र पुरी के बीच शीघ्रतर---
बाहुक को अध्यक्ष हयों का वहाँ बनाया—
और उसे अति दक्ष देख मन में हर्षाया ।
नित्य-नियम-अनुसार वह राज-काज करने लगा ;
अरियों का संहार कर प्रजा-कष्ट हरने लगा ।

(६३)

रथ के महारव से उठी जब जागकर नल की प्रिया—
तब क्या हुई उसकी दशा, क्या-क्या वहाँ उसने किया ।
कैसी उसे सहनी पड़ी थी मानसिक-कायिक व्यथा ;
पढ़िए उसे भी ध्यान से, आगे इसी की है कथा ।

---

* बाज पक्षी । शिकरा ।

बारहवाँ सर्ग

(१)

अमल कमल में कमल खिल रहे कमल-बंधु की कांति निहार—
जलचर, थलचर और व्योमचर करते थे जब सभी विहार ।
कोक-शोक ही शोक-मग्न था, कोक-लोक था शोक-विमुक्त—
करता था कल-अलि-कुल-कल-रव, थे जब कलरव कलकल-युक्त ।

(२)

सुजन-सुमन-सम स्वच्छ सुमन-गण देता था शोभा जिस काल—
था जन-मन में मोद भर रहा, कुमुद कु-मुद तज थे बेहाल ।
अंधकार-संहार-कार भी पहन कांति-जय-हार विचित्र—
लोक-मित्र बन व्योम-विहारी उदित हो रहे थे जब मित्र * ।

(३)

खिल - खिलकर हँसती थी प्राची धारणकर पट पीत पुनीत—
देख हंस को हंस - वंश - सह पक्षी जब गाते थे गीत ।
था प्रसून - मकरंद - पानकर मंद-मंद चल रहा समीर—
द्विज-पति-पत्नी †-सह जब द्विजपति थे श्रीहत, थे द्विज ‡ गंभीर ।

(४)

था दिनकर-कर-निकर कर रहा नभ में जब खग-सम प्रस्थान—
बढ़ता जाता था जब उसका सुंदर-सुखद प्रकाश महान ।
कहीं-कहीं था शोक छा रहा, कहीं-कहीं आनंद अथाह—
और चित्त में भरा हुआ था एक तरह का जब उत्साह ।

---

* सूर्य । † कुमुदिनी । ‡ ब्राह्मण नित्यकर्म संध्या-ध्यानादि के कारण ।

(५)

ऐसे सुखद समय के पहले भैमी होकर स्वप्न-विलीन—
देख रही थी प्राण-नाथ को बैठे हुए दशा में दीन ।
ज्ञात हो रहा था यह उसको, काट रहे ये मेरा वस्त्र,
किंतु कहाँ से हाथ लगा है वन में इनके ऐसा शस्त्र !

(६)

अर्ध-भाग साड़ी का लेकर दौड़ गए क्यों नल सुविकल ?
पीछे भला लौट क्यों आए, क्यों गिरता यों लोचन-जल ?
इनकी दशा हो रही कैसी, बेचैनी बढ़ती पल-पल ?
ये मलमल की धोती से क्यों रोते हैं आँखें मल-मल ?

(७)

संभव है, ये क्षुधा-शांति-हित उस कानन में जाते हैं ;
फिर पीछे आते जब इनको नहीं फूल-फल पाते हैं ।
किंतु नहीं अब के आए हैं, कहाँ गए हा ! जीवन-धन ?
वनमाली ! बतला, क्या पीते वनज*-वदन हैं वन में वन ?

(८)

बुझा रहे हैं दावानल को, निभा रहे हैं क्षत्रिय-धर्म—
बचा रहे हैं एक सर्प को, बता रहे हैं करुणा-मर्म ।
पल-पल में नल दावानल से कर निर्बल जीवों का त्राण—
अहो ! अग्नि के सम्मुख भी यों मचा रहे हैं रण घमसान ।

(९)

"धन्य-धन्य, पीछे आ जाओ," कह सकती थी वह यों स्पष्ट,
किंतु नहीं वह उठ सकती थी, यही उसे था केवल कष्ट ।
स्वप्न-दशा भी है अति अद्भुत, दिखलाती जो दृश्य अपार—
किंतु जमाने देती उन पर नहीं ज़माने को अधिकार !

---

* कमल-मुख नल । वन = जल । जीवनं भुवनं वनम् । इत्यमरः ।

(१०)

जो करना चाहे जब उसको नहीं मनुज करने पाता—
तब उसका जागृत जीवन भी स्वप्न - तुल्य ही हो जाता
इससे जागृति और स्वप्न में उन जीवों के भेद नहीं—
जो केवल कहते ही रहते, कार्य-पूर्ति करते न कहीं।

(११)

शुद्ध विचार प्रथम हों अपने, हो उनका ही स्पष्ट बखान—
मुख से जो कह दिया उसी की पूर्ति-मात्र का हो फिर ध्यान।
जो मन में है, हो वह मुख में, और वही हो कार्याधार—
सच्ची जागृति यही, स्वप्न वह, है जिसमें न हमें अधिकार।

(१२)

करके कहना, कहकर करना, बिना कहे करना उत्तम,
किंतु नहीं करना कह करके, कैसी है यह बात अधम ?
निद्रा में इन सब बातों का रहता है न किसी को ज्ञान;
करना और नहीं करना भी हैं दोनो ही वहाँ समान।

(१३)

स्वप्नावस्था में दमयंती काम नहीं कर सकती थी;
आँख खोल उठ करके अपना कष्ट नहीं हर सकती थी।
अवलोकन - अधिकार - मात्र ही था तब उसको दिया गया—
और एक उरगी-सम उसको मंत्र-बद्ध था किया गया।

(१४)

सुनकर रथ का शब्द उठी वह आँखें मलती हुई अधीर—
और जँभाई ली फिर जिससे भर आया नयनों में नीर।
यों करने से सुंदरता का सागर बढ़ा और दो हाथ—
किंतु घट गया शीघ्र नहीं था क्योंकि वहाँ नल-विधु का साथ।

(१५)

था जिसने इस काल कर लिया पूर्ण अमावस्या से स्नेह—
दीख न वह सकता था कुछ भी, पर अक्षत थी उसकी देह।
सुख-दुख का अनुभव कर इससे, उसने ऐसा किया विचार—
"है परिहास-मात्र यह, मुझको छोड़ न सकते प्राणाधार।

(१६)

"क्योंकि पदार्थ नहीं स्थित रहता होने पर आधार * -विहीन—
इसी तरह पति बिना प्राण ये रह सकते थे कैसे दीन ?
साधारण जन भी यों वन में करता नहीं प्रिया का त्याग—
नैषध तो अति ज्ञानवान थे, क्यों करते यों वे बड़भाग ?

(१७

"देकर वचन साथ रहने का क्यों करते वे ऐसी बात ?
और दूसरे करना भी वे नहीं जानते थे कुछ घात।
फिर भी उनकी शुद्ध बुद्धि का है किसने यों किया विनाश ?
जिससे आज हो गया मेरा काता - कूता सभी कपास।"

(१८)

बहुत प्रतीक्षा पीछे भैमी चिंता करने लगी महान ;
नल के बिना वहाँ जाता था उसका पल-पल कल्प-समान।
हृदय धड़कने लगा, चित्त में उठने लगे कई संदेह—
देह काँपने लगी, हो गई वह फिर महा शोक का गेह।

(१९)

सुध-बुध भूल झूलती थी वह पति - वियोग के पलने में—
चितानिल के झोंके आए उस पलने के चलने में।
होकर विरह - कृशानु - धूम से तमाछन्न उसके लोचन ;
करने लगे मेघ-सम अविरल लोचन - जल †-धारा - मोचन।

---

* नल रूपी आधार से रहित मेरे प्राण। † नेत्राबु, आसू।

(२०)

हा! हा! प्रियतम! शब्द-गर्जना हुई तनिक वर्षा पश्चात;
दंत-दीप्ति की दीप्त दामिनी लगी दमकने फिर अवदात।
मूर्च्छित विधु-वदनी भैमी के कोमल-कुंचित, काले केश—
बिखर-बिखर करते थे मुख का अलि-कुल-युक्त कमल-सम वेष।

(२१)

अथवा वे कहते थे—"आओ - आओ, ज्योतिष - विज्ञ - समाज!
पूर्ण-चंद्र के दर्शन कर लो ठीक अमावस्या है आज।
तुम झूठे हो, हम सच्चे हैं, सही करो अपना पंचांग—
कर-कंकण को नहीं आरसी, लखो कुहू में विधु पूर्णांग।"

(२२)

मूर्च्छा से उठकर भैमी ने फूट - फूटकर रुदन किया;
दुःख - शोक - आश्चर्य - भार से फिर उसका दब गया हिया।
होकर वह चुपचाप वेग से लगी दौड़ने कानन में—
होता था यों ज्ञात नहीं है जिह्वा उसके आनन में।

(२३)

महा शोक से पगली होकर फिरती थी वह चारों ओर;
वारंवार भयंकर वन में आर्तनाद करती थी घोर।
सिंहों ने सम - दुःख दिखाने किया गर्जना का भी त्याग—
और नोरचर-मानस में भी धधक उठी चिंता की आग।

(२४)

देख पपीहा ने फिर उसका पी-पी करना छोड़ दिया;
और नाचने से निज मन को मोरों ने भी मोड़ लिया।
मृग-शावक, मृग, मृगी और पशु, इन सबने उपवास किया;
उन दोनो * के दुख से उनका झुलस गया था मृदुल हिया।

---

* प्रथम नल का, पश्चात् दमयंती का विलाप सुनने से।

(२५)

मंजु महीरुह उसे देखकर महा दुखी बन जाते थे—
फल-फूलों के मिष से मानो आँसू कई गिराते थे।
बड़े-बड़े फूलों की बेलें ज्ञात इस तरह होती थीं—
मानो वे भी उसे देखकर फूट-फूटकर रोती थीं।

(२६)

थे मन में धिक्कार रहे सब निर्दय नल को वारंवार;
शोक-मग्न थे सभी, नहीं था पर उपाय भैमी-सुखकार।
देख उसे दयनीय दशा में करता था वन भी संताप—
भैमी-आर्तनाद की प्रतिध्वनि था मानो बस विपिन-विलाप।

(२७)

"हा जीवन-धन! कहाँ गए तुम, हा प्रियतम! हा प्राणाधार!
मेरे लिये यहाँ क्यों छोड़ा विरह-कष्ट का पारावार?
बार-बार मैं विनय कर रही, अब न करो, जा यह परिहास;
दर्शन दोगे शीघ्र मुझे तुम यह मुझको पूरा विश्वास।

(२८)

"छिपे हुए हो इस निकुंज में, ठहरो-ठहरो आती हूँ;
नहीं यहाँ पर भी तुम मिलते और कहीं अब जाती हूँ।
क्या अपराध किया है मैंने, जिससे मेरा त्याग किया?
क्या रहता है छिपा हुआ प्रिय! कोमल तनु में कठिन हिया?

(२९)

"वचन-भंग क्यों करते हो यों दृढ़-प्रतिज्ञ हो करके आप?
अन्य-दुःख-हारी कहलाकर क्यों देते मुझको संताप?
मुझे न अपनी चिंता कुछ भी, किंतु आपकी है द्युतिमान!
क्योंकि आपकी सेवा वन में कौन करेगा कहो सुजान!

(३०)

"महा मृदुल हो करके कैसे भोगोगे तुम कानन - क्लेश?
कहाँ रहोगे, क्या खाओगे, क्या पीओगे हे प्राणेश!
क्योंकि आज तक एकाकी वन नहीं रहे हो तुम धीमान!
और ज्ञात भी तुम्हें नहीं है वन के भीषण मार्ग महान।

(३१)

"कहीं झाड़-झंकाड़ उग रहे, कहीं रहे चिंघाड़ नगेंद्र;
कहीं नगेंद्र * फाड़ते मुख को, कहीं गर्जते महा मृगेंद्र।
ऐसे वन में कष्ट पड़े पर नाथ! सुनेगा कौन पुकार?
हाथ नहीं हथियार आपके और आप सुकुमार अपार।

(३२)

"मृदुल पुष्प-शय्या पर सोकर, स्वर्गोपम सुख अनुभव कर—
भोग सकोगे किस प्रकार से कष्टों को वन के अंदर?
याद करो उस कमल-कली को, था जिसने जल-क्रीड़ा में—
चरणों में चुभ करके तुमको डाल दिया था व्रीड़ा में।

(३३)

"प्रकृति आपकी अति विचित्र है, कठिन और है कोमलतम—
सिरस-सुमन-वर्षा से भी जो घबरा उठती है अनुपम।
वही कठिन हो जाती रण में शस्त्र-वृष्टि सह जाने को;
भालों के मुख टेढ़े करने और वज्रता पाने को।

(३४)

"याद करो उस शुभ अवसर को विकल हुए जब आप अपार—
स्वागत-समय देखकर तन पर लाज-वृष्टि का किंचित भार।
जन्म-सिद्ध-सुकुमार आपको होगा वन में कितना कष्ट—
यही सोचकर मुझे दुःख है, आओ, कहो मुझे सब स्पष्ट।

* बड़े-बड़े साँप तथा गजराज।

(३५)

"जो तुम मुझे छोड़ना चाहो, आकर कह दो प्राणाधार !
इस आज्ञा के पालन में भी है दासी भैमी तैयार।
बिना कहे यों मुझे त्यागना निर्जन वन में आज सुजान !
कहो कहाँ तक न्याय-पूर्ण है, धर्म-युक्त है, ज्ञान-निधान !

(३६)

"क्या अब याद नहीं आता है तुमको वह अवसर गुणगेह !
त्यागा था देवों को मैंने करके जब तुममें दृढ़ स्नेह।
पर तुम किसके लिये छोड़ते आज मुझे हा हे सुखकार !
क्यों यह हाथ पकड़कर मुझको छिटकाते हो यों मझधार ?

(३७)

"बालकपन में रक्षा करता पिता बालिका की मतिमान !
यौवन में पति रक्षक बनता और बुढ़ापे में संतान।
पिता पुत्र को, सब कुटुंब को छोड़ा मैंने जिसके अर्थ—
आज नहीं किस कारण से यों त्याग रहा है मुझे समर्थ !

(३८)

"मेरा ही दुर्भाग्य मानिए, तुम्हें न देती मैं कुछ दोष,
किंतु आप कहकर जो जाते, तो हो जाता कुछ संतोष।
आ जाओ, दर्शन दो मुझको, ठीक नहीं इतना परिहास,
क्योंकि सदा अति वर्जित होती, है मुझको ऐसा विश्वास।

(३९)

"रीति-रीति की हँसी ठीक है, होती अधिक कलह का गेह;
खेल हो रहा भला आपके, काँप रही है मेरी देह।
जो तुम प्रकट नहीं अब होगे, तो समझूँगी मैं यह बात—
मुझे बड़ा धोखा दे करके चले गए हैं आप बलात।

(४०)

"ऐसा करने से क्या होगा, प्रथम कीजिए इसका ध्यान ;
होगा क्या परिणाम अंत में, सोचो यह भी, ज्ञान-निधान !
कर सकते हो अलग मुझे क्या आप छोड़कर मेरा साथ ?
धोने से क्या धुल सकती है हाथों की रेखा ? हे नाथ !

(४१)

"हूँ मैं आधा अंग तुम्हारा, मेरे बिना कभी कुछ काम—
कर सकते तुम नहीं कहीं पर, सच कहती हूँ, हे छवि-धाम !
पत्नी-सदृश नहीं त्रिभुवन में कहीं मिलेगा सच्चा मित्र ;
पति के पीछे चलकर करती स्वर्ग-लोक को वही पवित्र ।

(४२)

"जन्म-दायिनी माता भी तो सुत के संग नहीं चलती ;
प्रेममयी पत्नी ही केवल साथ नाथ के है जलती ।
ऐसे तन के टुकड़े को तुम निर्दयता से छोड़ चले !
सुख-दुख-संगी-सरल-सखा से यों अपना मन मोड़ चले ।

(४३)

"जहाँ मान स्त्री का न, वहाँ पर पैर कलह के जमते हैं ;
महिला* का सम्मान जहाँ पर, वहाँ अमर भी रमते हैं ;
जन की आधी काया जाया नींव धर्म की होती है—
और वही पति-हृदय-भूमि में पुण्य-बीज को बोती है ।

(४४)

"पत्नी जिसके पास, उसी को धर्म-कर्म का है अधिकार ;
जाया ही गृहस्थ की जड़ है, और प्रेम का है आधार ।
है यह सृष्टि-मात्र का कारण महामहिम-माया का रूप ;
सुंदरता का सागर होकर है जीवों में यही अनूप ।

---

* महाराज मनु के मतानुसार ।

(४५)

"वही देवता कहलाता है, जो करता स्त्री का सम्मान ;
देव-धाम है वही, जहाँ पर है महिला का मान महान ।
है सधवा का गान जहाँ पर, वही स्थान है मंगल-खान —
स्त्री - शिक्षा अनिवार्य जहाँ पर, है वह वाणी - वास-स्थान ।

(४६)

"खा लेते हरि लात हृदय पर श्री को रखने अपने संग ;
हर्षित करने गिरि - बाला को शिव देते निज आधा अंग ।
पशु - पक्षी भी, शैल - वृक्ष भी हैं सारे स्त्री - प्राणाधार,
किंतु 'सृष्टि - स्वामी *' है नर तो कैसे करे नारि - सत्कार !

(४७)

"लोकाचारों में होती है पति का गुरु केवल पत्नी ;
है एकांत - बीच वह रमणी, रण में देती बल पत्नी ।
कर † प्रवेश पत्नी में पति ही सुत होकर बाहर आता—
है प्रलाप मेरा न, किंतु यह आर्य - शास्त्र है बतलाता ।

(४८)

"माता, पिता, सखा, भ्राता है स्त्री ही सच्चा शक्ति-स्वरूप—
ऐसी को तज सुख न पा सकें सुर-नर-मुनिजन-त्रिभुवन-भूप ।
नारी - शक्ति अलौकिक होती, सुनिए नल ! विरहानल-पाथ !
सृष्टि नहीं कर सकते कुछ भी स्त्री के विना त्रिलोकी-नाथ ।

(४९)

"इससे प्रियतम ! मुझे न छोड़ो, स्नेह - सूत्र को मत तोड़ो ;
मन-मतंग को मोड़ो स्वामिन् ! प्रेम-बंध को फिर जोड़ो ।

---

* Lord of creation. चराचर का स्वामी । † महाभारत में शकुंतला ने दुष्यंत से यही कहा है ।

क्षमा दीजिए इन वचनों को, जो मैं दुख से कहती हूँ ;
बहती हूँ मैं शोक-सिंधु में, विरह-व्यथा को सहती हूँ ।

(५०)

"नहीं आपको तज सकती हूँ, किंतु छोड़ सकती हूँ प्राण—
क्योंकि प्राण से प्यारे हो तुम, प्राण नहीं प्यारे धीमान !
प्रभु के ईर्षी प्राण तजेंगे नहीं मुझे देने दुख-भार ;
ये कहते—'तू करती हमसे अधिक बता, क्यों पति से प्यार ?'

(५१)

"हाय ! करूँ क्या, मुँह माँगे से नहीं मौत भी मिलती है ;
दुखियों का दुख देख-देखकर वह भी मन में खिलती है ।
भाग्य-भवन के भूपति ! आओ, मुझ अबला को अपनाओ ;
मेरे मन को सुखी बनाओ, आओ, आओ, आ जाओ ।

(५२)

"कहाँ दौड़कर जा सकते हो, कहाँ छिपोगे हे निष्पाप !
तन में, मन में, रोम-रोम में रमे हुए हैं मेरे आप ।
आँखों में बस करके भी तो नहीं दीखते तुम भरपूर ;
बंद हृदय में हो करके भी चले गए हो आप सुदूर !

(५३)

"क्या सेवा मुझसे न बन पड़ी, कौन दोष का है यह दंड ?
क्या छल-कपट किया है मैंने, हुआ कौन-सा है पाखंड ?
क्या अपराध हो गया मुझसे, क्या प्रतिकूल किया है नाथ ?
क्या आदेश अपूर्ण रह गया, जिससे छोड़ा मेरा साथ ?

(५४)

"हृदय तुम्हारा सत्य-दया-निधि और प्रेम का सागर है,
किंतु हो गया नाथ ! आज क्या वही क्रूरता-आकर है ?

कौन बुद्धि दे गणनायक को, कौन तुम्हें समझावेगा ?
सोता हुआ जाग सकता है, जागा कैसे जागेगा ?

(५५)

"है तुमने अशरण अबला को चरण-शरण से अलग किया ;
शरणागत - स्वामी कहलाकर क्यों यह अपयश मोल लिया ?
होनी होकर रहती, इसमें प्रभो ! किसी का दोष नहीं—
यों विचारकर भी तो मुझको होता कुछ संतोष नहीं ।"

(५६)

इतना कहकर भीम - कुमारी जल - विहीन - सी होकर मीन —
वहीं गिर गई एक कुंज में चेतनता से होकर हीन ।
होती थी वह ज्ञात इस तरह, होकर भूंगाछन्न महान —
मानो कष्ट - कालिमा - युत थी बन करके वह शोक - निधान ।

(५७)

ज्ञात हुई यों मूर्च्छित भैमी कुंज - भूमि पर जड़ी हुई—
मानो नीरज - पत्रों नीचे वन - देवी हो पड़ी हुई ।
स्वेद-कणों का जाल भाल पर यही भाव दर्शाता था—
मानो नल - हित भाग्य - देव भी अश्रु - वृष्टि वर्षाता था ।

(५८)

दंत-दीप्ति होठों पर आकर ऐसी छवि दिखलाती थी —
लोचन - जल - धारा को मानो रसना स्वयं बहाती थी ।
चमकीले तारों के मिष से साड़ी भी बस रोती थी ;
डाल सभी को शोक-सिंधु में भैमी मानो सोती थी ।

(५९)

सूर्य अरुण बन यह कहते थे—"है मुझको भी कष्ट महा—
हे दमयंती ! दुःखित होकर हूँ मैं सब कुछ देख रहा ।

है यह कर्मों का फल पुत्री ! इसे भोगना है अनिवार्य—
मुझको भी इसके ही द्वारा कैसा कठिन मिला है कार्य।"

(६०)

चिंता करने से पृथ्वी का रंग हो गया पीला था;
क्लेशित पवन मंद बहता था, गगन शोक से नीला था।
खलल-खलल अति निर्मल जल के झरने झर-झर बहते थे—
मानो वे सब रो-रो करके भैमी से कुछ कहते थे।

(६१)

उनके सुनकर शब्द भीमजा जागी उस भीषण वन में;
देख नाथ को नहीं साथ में बनी चिंतिता फिर मन में।
आर्तनाद प्रारंभ कर दिया, निःश्वासों का पुल तोड़ा—
हाय ! हाय ! हा ! हा ! यों करके आहों के घट को फोड़ा।

(६२)

लगता था यों पयोधरों पर अश्रुपात गिरकर सारा—
मानो मेरु-युगल-शिखरों पर चार नदी की हो धारा।
मूर्च्छा - पर - मूर्च्छा आती थी, कष्ट अंकुरित होता था;
पति-विलाप के ही बीजों को शोक हृदय में बोता था।

(६३)

धारण करके धैर्य, कठिनतम करके अपना हृदय विशाल—
जोड़े हाथ, खड़ी होकर वह बोली दीन-वचन उस काल—
"हे वनदेवो ! बिना तुम्हारे वन में मेरा रक्षक कौन ?
किंतु देखकर मेरी हालत आज हो गए क्यों तुम मौन ?

(६४)

"मेरे सतीपने के साक्षी सूर्यदेव ! तुम भी रहना—
इसी विषय में प्राणनाथ को समय पड़े पर कुछ कहना।

पति-वियोग के सागर में अब मुझे निरंतर है बहना ;
जितने दुःख जगत में होते, उन सबको मुझको सहना ।

(६५)

"आओ प्रियतम ! आओ, आओ, मुझे रुलाओ मत दिन-रात ;
जो न चाहते आना, तो अब एक मान लो मेरी बात—
अपने गुण-गण को समेटकर ले जाओ तुम अपने साथ—
जिससे मेरी विरह-वेदना नहीं चौगुनी होवे नाथ !

(६६)

"किसी दूसरे वन में, पुर में जाकर आप करेंगे वास—
तो फिर क्यों न गुणों को अपने ले जाते हो अपने पास ?
मुझको जीवित रखने को ही है यह तुमने किया उपाय—
देख-देख इनको जीवेगी हाय ! हाय ! करके वह, हाय !

(६७)

"किंतु तुम्हारे सदृश प्रभो ! मैं कभी न तुमको छोड़ूँगी ;
जिन आँखों ने रूप निहारा, नहीं उन्हें भी फोड़ूँगी ।
मधुर वचन सुननेवालों को, कानों को, क्यों तोड़ूँगी ?
नल-चित्रांकित-चित्त-पत्र को हृदय के साथ न जोड़ूँगी ।

(६८)

"यह शरीर भी मुझे नहीं प्रिय, किंतु आपका कर सहवास—
नहीं नष्ट होने का इच्छुक, मैं न करूँगी इसका नाश,
पर कानन में नाथ-गुणों का देख अनुकरण बारंबार—
मुझसे नहीं रहा जाता है, यही दुःख है एक अपार ।

(६९)

"पता तुम्हारा नहीं बताते, करते हैं अलि यही बखान—
'काले-काले बालोंवाले नल थे षट्पद - शत्रु - समान ।'

अमल कमल में खिले हुए ये कमल न मुझसे करते बात—
वदन - कांति - स्पर्द्धालु हो रहे, और जलाते मुझे बलात।

(७०)

"हे हरिणो ! तुम मुझसे कह दो, कहाँ गए हैं मेरे नाथ ?
हे कीरो ! तुम ही बतलाओ, आओ, आओ मेरे साथ।
छोड़ कलरवो ! कलरव को तुम, कहो मुझे कुछ उनका हाल ;
कल-गल को क्यों फुला - फुलाकर गर्व कर रहे हो इस काल ?

(७१)

"मारो तुम इन मृगराजों को करते जो मुझको बेहाल ;
वक्षस्थल को फुला-फुलाकर चलते हैं ये धीमी चाल।
हँस-हँसकर सम्मुख आते हैं और मुझे शर्माते हैं ;
वन के बीच खड़े हो करके अपना वक्ष दिखाते हैं।

(७२)

"ले करके हथियार हाथ में इनका आप वक्ष तोड़ो ;
आओ, आओ अपने मन को निष्ठुरता से अब मोड़ो।
फूल-फूल करके ये केले यही बात बतलाते हैं—
भारी जंघावाले नल अब क्यों न सामने आते हैं ?

(७३)

"जल-कण-युक्त-कमल-दल करते व्रण-युत पदतल का अपमान ;
इनको क्यों न नष्ट करते हो, हो करके तुम शक्ति-निधान !
सिर पर चढ़कर सूर्यदेव भी देते हैं मुझको अति कष्ट—
आज तुम्हारे हैं प्रताप को चाह रहे ये करना नष्ट।

(७४)

"आर्य-पुत्र ! क्यों इन लोगों से सहते हो इतना अपमान ?
लज्जा क्या आती न तुम्हें अब ऐसी बातें देख ? सुजान !

यहाँ बात बतलाओगे क्या होकर तुम मानव - आदर्श ?
यही और दिखलाओगे क्या पाकर महा-शक्ति-उत्कर्ष ?

(७५)

"लो, मेरा विध्वंस हो गया, अब न मिलूँगी तुमसे नाथ !
इस भीषण अजगर के मुख में जाता है यह जीवन-पाथ।
काल-कराल-गाल में मुझको लेगा खींच काल यह सर्प ;
करते रहना फिर पीछे से आप वीरता - बल का दर्प।

(७६)

"जाती हूँ मैं ऐसे कहकर, शोक न तुम मेरा करना—
कभी हो सके, तो सुध लेकर सुत-कन्या का दुख हरना।
हैं ये दोनों मेरे स्मारक, इन्हें तुम्हें मैं सौंप चली—
क्योंकि पास में बची हुई है यही धरोहर बुरी-भली।

(७७)

"मरने की चिंता न मुझे कुछ, यही खेद है एक महान—
निषध-नाथ के चरणों में क्यों निकले नहीं दुखी ये प्राण ?
परमपिता जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है, नाथ !
छोड़ेगा वह साथ क्यों न तब, छोड़ दिया जब तुमने हाथ ?

(७८)

"मरती हूँ मैं तो, पर तुमको सहस्रायु कर दे भगवान ;
फूलो, फलो, सुखी बन जाओ, हो तुम विद्या-बल-धन-खान।
मेरी अंतिम यही विनय है, हाथ जोड़कर जीवन - नाथ !
मुझसे जैसा किया, न करना वैसा आप किसी के साथ।"

(७९)

इतना कहकर गिरी वहीं वह हाय ! हाय ! करती भू पर—
मुख को फाड़, बढ़ा कुछ आगे उसे निगलने को अजगर।

किंतु राम हैं रक्षक जिसके, उसका भक्षक कहीं नहीं--
मानव क्यों फिर भी डरता है, क्यों रोता है सभी कहीं?

(८०)

बाल न बाँका हो सकता है, रक्षा करते जब जगदीश;
लंका का विध्वंस कर दिया, मरा न तो भी रक्षित कीश।
अजगर तो क्या, जो त्रिभुवन भी ले लेवे कर में हथियार—
उसे न घायल कर सकता है, जिसके रक्षक जगदाधार।

(८१)

उसकी आज्ञा विना न करता पत्ता भी हिलने का काम;
न्याय-नीति से ही होता है उसका शुभ आदेश ललाम।
जिसके पाए विना किसी की सुनी न जाती है फ़र्याद;
सुन लेने पर बच जाते हैं पावक में पावन प्रह्लाद।

(८२)

देख महा दयनीय दृश्य को एक शाकुनिक ने आकर—
मार दिया उसको फिर पल में निज विद्या बल दिखलाकर।
सदा मारनेवाले से अति भली जिलानेवाला है;
ज़हर खिलानेवाला पहले अमृत पिलानेवाला है।

(८३)

देख उसे जागी मूर्च्छा से मुदित बधिक बोला तत्काल—
"क्या करती हो तुम इस वन में, चलो गेह पर मेरी लाल!
बन भुजंग मैं ढूँढ रहा हूँ तुम-जैसी मणि को ही आज;
मिलो बाँह भर-भरकर मुझसे व्यर्थ करो मत ऐसी लाज।"

(८४)

सुनकर ऐसे कटु वचनों को दमयंती का सारा शोक—
इस प्रकार चल दिया, जिस तरह हरिणराज को हरिण विलोक।

बड़े वेग से उठकर उसने कहा—"मूढ़ ! तू जीभ सँभाल—
पिता-तुल्य होकर तू ऐसे व्यर्थ बजाता है क्यों गाल ?"

(८५)

इतना कहना था कि बधिक ने बढ़ा दिए फिर अपने हाथ—
और पकड़ना चाहा उसको ले जाने को अपने साथ,
किंतु तेज से भस्म * कर दिया भैमी ने उसको तत्काल।
महाकोप के मारे उसकी यों लगती थी मूर्ति विशाल—

(८६)

हर-ललाट-लोचन का पावक हो करके मानो तनुधर—
दग्ध-देह-मन्मथ को फिर से जला रहा वन के अंदर।
रवि की रश्मि-राशि ही अथवा स्त्री-शरीर को धारणकर—
भस्म कर रही तमधर तम † को कानन में अन्वेषण कर।

(८७)

धन्य-धन्य है सती-तेज को, धन्य उसे, जो उसकी खान;
भारत - भूमि धन्य है, जिसका मनुज - जाति को है अभिमान।
कहें कहाँ तक इसमें ऐसे कई हुए हैं नारी-रत्न—
जिनकी कांति देख सकते हैं वे ही, जो करते हैं यत्न।

(८८)

पतिव्रता के कोपानल में भस्म हो सके यह संसार;
सती - शक्ति है शक्ति - स्वरूपा, सदा - सर्वदा अपरंपार।
जिसका पार ब्रह्म भी पाकर नहीं बताते पूरी बात;
माया से जो अलग हुए भी बसते हैं उसमें दिन-रात।

(८९)

ऐसा कोई काम नहीं है, सती न जिसको कर सकती;
हँसी-हँसी में वह सदेह ही भव-सागर को तर सकती।

---

* सर्ग ८; छंद ८५ को देखो। † व्याध बहुत काले रंग का था।

शोक-दुःख को, आधि-व्याधि को पल-भर में वह हर सकती;
निज इच्छा के विना नहीं वह यम से भी है मर सकती।

(९०)

जो इसको मिथ्या बतलाते, झूठे वे कहलावेंगे;
सती - शक्ति - महिमा - विद् मानव उन्हें मूढ़ बतलावेंगे।
सावित्री ने मृत स्वामी को यम से शीघ्र छुड़ाया था;
द्रुपद-सुता का चीर कृष्ण ने क्यों कर कहो, बढ़ाया था?

(९१)

दुराचार से बचना ही क्या सतीपना कहलाता है;
पातिव्रत तो कहीं-कहीं पर किसी - किसी में पाता है।
साथ चिता में जल जाना भी एक सतीत्व कहाता है;
बड़ी कठिनता से इस व्रत का पालन करना आता है।

(९२)

सती - शिरोमणि श्रीसीता ने, जगत जानता जिनका नाम—
लंका में रहकर भी रक्खा निज सतीत्व को था अभिराम।
कन्या होकर भी कुंती ने करके वैसा घोर कुकर्म—
कभी न छोड़ा, पर पाला था जीवन तक साध्वी का धर्म।

(९३)

पति के साथ न जलने पर भी सती उत्तरा कहलाती;
थे पति पाँच, द्रौपदी तो भी पातिव्रत - महिमा पाती।
कर कुकर्म भी सतीपने से गिरी नहीं गौतम-नारी;
तारा को भी पतिव्रता ही कहती है पृथ्वी सारी।

(९४)

सच्ची सती वही होती है है जिसके पति-भक्ति अपार;
जप, तप, ईश्वर और सभी कुछ है जिसके अपना भर्तार।

हरि-दर्शन कर लेती है वह, अपने पति का वदन विलोक ;
उसे नहीं अच्छा लगता है स्वामी बिना स्वर्ग, भू-लोक ।

(६५)

जो कुछ है, उसके बस पति है, यज्ञ, याग, धन, तीर्थ, सुकर्म—
उसकी सेवा, उसकी पूजा, उसकी भक्ति, यही है धर्म ।
है ईश्वर से अलग नहीं वह, है जो उसका पति, अभिराम—
वही प्राण है, ज्ञान-मान है, ध्यान, धारणा, प्राणायाम ।

(६६)

ऐसा व्रत ही पातिव्रत है, जो इसको रखती रमणी—
माया - रूपा, शक्ति - स्वरूपा कहती उसको सब धरणी ।
थी ऐसी ही बस दमयंती वधिक - दाह करनेवाली ;
अबला होकर थी वह सबला, पापी-असु हरनेवाली ।

(६७)

किंतु विरह-विधुरा बनकर वह भूल गई थी अपनी शक्ति ;
लीलामय ने लीला करके दी उसको उसमें अनुरक्ति ।
धन्य-धन्य है परमपिता ! तू, हे विश्वंभर ! जगदाधार !
देता दंड सदा दोषी को, निर्दोषी को तू उपहार ।

(६८)

पावन - दमन - वचन - उत्पन्ना था वह भव्य भीम - जाता,
नल - जैसे की पटरानी थी, इंद्रसेन की थी माता—
और स्वयं वह महा सती थी, आदर्शा थी वह नारी,
सुर भी जिस पर लालायित थे, थी मुग्धा वसुधा सारी—

(६९)

ऐसी अद्भुत रमणी को भी रमा - रमण ! तू दुख देता—
और कीर - शिक्षक - गणिका को चरण-शरण में ले लेता ।

महा-महिम ! तू क्यों माया का भेद नहीं देता पाने ?
बेढंगे, बेतुके काम क्यों करता है तू मनमाने ?

(१००)

ऐसी श्रेष्ठ सती को भी तू देता है जब दुःख महान—
तो अब, कलि की कामिनियों की क्या हालत होगी भगवान !
राजपाट - परिवार - हीन बन, ऐसा नल भी दुख पाता—
तो क्या हाल हमारा होगा, नहीं समझ में कुछ आता !!

(१०१)

भैमी की कोमल काया पर ख़ूब आ रहे थे प्रस्वेद ;
व्याघ्र-भस्म को वहीं छोड़कर, फिर वह आगे बढ़ी सखेद ।
थर-थर काँप रही थी दुख से भर-भरकर आहों पर आह—
झर-झर आँसू बहा रही थी कर - कर विरह-पयोधि अथाह ।

(१०२)

भूख-प्यास से व्याकुल होकर बैठी वह वट नीचे एक ;
जिसके सम्मुख वर तडाग था, फलित आम्र थे जहाँ अनेक ।
था निदाघ-मध्याह्न उस समय, था उसका अति श्रांत शरीर ;
सोच रही थी वह नल को ही, भूल रही थी अपनी पीर ।

(१०३)

हरे दलों का दौना करके उसने नैषध - रुचि - अनुकूल—
बड़ी युक्ति से रक्खे उसमें ताज़े कंद, मूल, फल, फूल ।
छोड़ सरोवर में वह उसको खाकर फिर कुछ मीठे आम—
वहीं सो गई जल पी करके रटती-रटती पति का नाम ।

(१०४)

नहीं सुध ली किसी ने भी गहन में भीम - तनया की ;
रहे थे प्राण ही तनु में, रहा उसमें न कुछ बाक़ी ।
नगर-वर 'चेदि' में कैसे गई दुख भोग नल - नारी—
लिखी संक्षेप में आगे इसी की है कथा सारी ।

तेरहवाँ सर्ग

(१)

जलजातों के अमल-सुशीतल-जीवन-जल को—
पीकर दिखला रहा ग्रीष्म था अपने बल को।
दमयंती-मुख-पद्म भोगता कष्ट महा था—
उपमानों को क्योंकि दुखी वह मान रहा था।
देख भूमिरुह-क्लेश को भूमि-हृदय था जल रहा;
माता संतति-दुःख से होती है दुःखित महा।

(२)

लघु नदियाँ बन शुष्क यही थीं बस बतलाती—
दुष्ट-संपदा सदा आप ही क्षय हो जाती।
कहते थे वन-शैल-वृक्ष बन पीले, काले—
"दुःख भोगते सभी पराश्रय - जीवनवाले।"
जगत्प्राण भी * उष्ण बन कहता था यह सब कहीं—
"दीनजनों की आह से कौन भला जलता नहीं?"

(३)

जिसके आगे सिंह दीन जंबुक हैं होते—
गज-छाया में बैठ शक्ति हैं अपनी खोते।
महाबली शार्दूल भूख के मारे रोते;
सुख की निद्रा हैं न कहीं भी प्राणी सोते।
उस निदाघ से था सुखी मानव कोई भी नहीं;
दुख-ही-दुख देते सदा दुष्ट जहाँ जाते वहीं।

---

* हवा।

(४)

जिसके भय से सूर्य हिमालय-सम्मुख जाते ;
विष्णु शीत के लिये दुग्ध-सागर में पाते।
कमल-नाल के बीच छिपे रहते कमलासन * ;
गंगा-जल को बहा रहे सिर पर चर्मासन † ।
ऐसे भीषण ग्रीष्म से बाज़ी लेगा कौन नर ?
हिमता-जनिता नीर को उड़ा रहा जो वाष्प कर।

(५)

महा उष्णता झेल, ग्रीष्म की चोटें खाकर—
दिन भी मानो बढ़ा लोह की समता पाकर।
पति-दुख-कारण प्रिया-रात्रि भी घटती जाती ;
क्योंकि न मिलता दिवस उसे है जब वह आती।
विरह-काल को काटते यों ही दोनो नारि-नर—
मानो भैमी को अलग नल राजा से देखकर।

(६)

बड़ा बुरा था हाल हो रहा सब धरणी का—
ताप-रूप-फल भोग-भोगकर निज करणी का।
थी गरमी से निकल गई मनुजों की गरमी ‡—
नरमी काया में न, किंतु थी मन में नरमी × ।
नीच-निदाघ-नरेंद्र को करने को हर्षित महा—
रोम-रोम भी भीति से था मोती वर्षा रहा।

---

* ब्रह्मा । † शिव । इन बातों के कोई प्रमाण नहीं हैं, किंतु ये कल्पनाएँ—उत्प्रेक्षाएँ—ही हैं। ‡ अपने बल का गर्व। × दीनता। शिथिलता शरीर में थी।

(७)

ऐसी ऋतु में पड़ी हुई थी भीम - कुमारी —
वन में एकाकिनी, व्याधियाँ सहकर सारी।
वहाँ ठीक मध्याह्न - काल था क्रूर भयंकर —
था मार्तंड प्रचंड अनल-सम, अनिल-ताप-कर।
अंदर तो विरहाग्नि थी, था ऊपर रवि-कर-निकर —
अबला वन इनको सहा, धन्य भीमजा, धन्यतर।

(८)

महिषी - महिप महान पंक में पड़े हुए थे;
तरु - छाया में जीव भूमि पर जड़े हुए थे।
वृक्षों पर खग खोल चंचुपुट अपना-अपना —
आँख बंदकर देख रहे थे सुख का सपना।
थीं बूँदे प्रस्वेद की श्वा-जिह्वा से गिर रही —
और प्राणिजन-देह भी थी चिंता से घिर रही।

(९)

कोलाहल से चौंक शीघ्र वह जागी डरकर —
देखे उसने वहाँ नारि-नर वणिक वेश-धर।
पीस-पीसकर दाँत सभी रोते थे झर-झर —
थे चमकीले अस्त्र हाथ में सबके असु-हर।
ऊँचे स्वर से किंतु वे कहते थे ये कटु वचन —
"मर जावेगी पापिनी! अभी चली जा छोड़ वन —
"तूने सत्यानाश * किया वणिकों के धन का।"
"धन का ही क्या," कहा दूसरे ने, "सब वन का।"

* सर्वनाश का अपभ्रंश।

"तू पिशाचिनी! चली यहाँ पर क्योंकर आई?
है अभागिनी सत्य सभी को तू दुखदाई।
कर्म-हीन जो तू नहीं होती, अद्भुत-वेष-धर!—
तो तुझको गजराज भी चल देते क्यों सूँघकर?

(११)

"मचल-मचलकर तुझे मारते कुचल-कुचलकर—
तेरे तन का चूर्ण बना देते जब कुंजर—
होता तब कल्याण हमारा मनुज-घातिनी!
था वन का भी अहोभाग्य तब महा-पापिनी!
तेरा आना ही यहाँ है कारण उत्पात का;
नहीं आज तक दुख हुआ हमें किसी भी बात का।

(१२)

"देख, इधर तो देख, मृतक तनु कितने भू पर—
कई युवक, शिशु, वृद्ध, मरे हैं बालक, सुंदर।
मणि-मुक्ता-माणिक्य-राशि का चूर्ण हो गया—
साथ-साथ ही सभी हमारा सौख्य सो गया।
लता-कुंज-तरु-क्षय हुआ, इस वन को तू त्याग जा;
क्यों श्मशान इसको किया? अभागिनी! तू भाग जा।

(१३)

"फिर आया करि-यूथ करेगा नाश हमारा;
तुझे कुचलता क्यों न बता तू यह हत्यारा?"
इतना कहकर लगे दौड़ने सभी नारि-नर—
और आ गए वहाँ मंजु, मतवाले कुंजर।
दमयंती अति शोक से खड़ी रही, दौड़ी नहीं;
जिसके रक्षक राम हैं, क्या उसका भक्षक कहीं?

(१४)

किंतु उसे अत्यंत मानसिक कष्ट हुआ तब—
नीच-वणिक जन-वचन स्वमन में स्मरण किए जब ।
हाथ जोड़कर कहा सूर्य से—"सुनिए दिनपति !
जो मैं सच्ची सती, शुद्ध जो मेरी गति-मति—
तो दुख दो उसको महा, कष्ट हमें जो दे रहा—
नल* का, मुझको विरह के सागर में जो खे रहा ।

(१५)

"भगवन् ! मैंने कभी कहीं क्या पाप किया है ?
क्या मैंने यों कभी किसी का दुःख दिया है ?
जिससे मुझको नहीं नाग भी लेता मुख में—
और न करते नाग नष्ट कर मुझको सुख में ।
जिसने मेरे साथ-हित था पति को वारण † किया,
वारण-गण को अंध भी आज उसी ने कर दिया ।

(१६)

"पातिव्रत का नियम सत्य यदि हो मेरा यह—
शास्त्र-कथित जो शक्ति प्रभा रखता भी हो वह—
तो सारे ये मृतक मनुज जो यहाँ पड़े हैं—
करियों से जो प्राण बचाने अभी लड़े हैं—
जीवित हों पल-मात्र में सौख्य-शक्ति-संपन्न बन ;
जैसा-का-तैसा बने दीन वणिक-जन-सर्व-धन ।"

---

* यह शाप दमयंती ने कलि को दिया था, जिससे वह अत्यंत पीड़ित होने लग गया । नल के ही शरीर में उसने प्रवेश किया था ।

† रोक, हाथी ।

(१७)

यों कहकर वह छिपी कुंज में प्राण बचाने—
क्योंकि सर्प-सम वणिक वहाँ थे उसको खाने।
इतने में वे उसी स्थान पर दौड़े आए;
महा मुदित फिर हुए देख अपने मन भाए।
कहा एक ने सोचकर—"किया दर्प हमने बड़ा;
देवी को क्या-क्या कहा, दंड मिलेगा अब कड़ा।

(१८)

"आई थी वह आज हमारी रक्षा करने—
रत्नों से भांडार हमारे सारे भरने।
गड़े हुए रत्नादि किस तरह फिर से पाते?
जो वह आती नहीं मृतक कैसे जी जाते?
धन्य-धन्य हे देवि! तू रक्षा करना अब वहाँ—
'चेदि'-नगर हम जा रहे, है 'सुबाहु' राजा जहाँ।"

(१९)

सुनकर उनके वचन स्वमन में उसने ठाना—
"हितकर होगा चेदि-नगर में मेरा जाना।
मेरे जीवन-जीव वहाँ पर क्यों न मिलेंगे?
युगल-चकोर * विलोक चंद्र को † क्यों न खिलेंगे।
काम सिद्ध होगा नहीं, वन-निवास की नीति से;
इस आलस्य-विलाप से, क्या होगा इस प्रीति से?

(२०)

"जीवन-धन! अब यहाँ कहाँ, हैं किंतु नगर में;
जाकर ढूँढूँ प्रथम 'चेदि' के ही घर-घर में।

---

* नेत्र। † नल-मुख।

खोज चुकूँगी भूमि और पाताल सभी जब—
पहुँचूँगी मैं शीघ्र आप ही स्वर्गलोक तब।
बैठे-बैठे यों मुझे नहीं मिलेंगे प्राण-धन,
कर्मवीर के सामने भाग्य रहेगा दास बन।

(२१)

"उपयोगी कुछ काम चाहिए मुझको करना—
महाकष्ट को और यत्न में अपने हरना।
करने से अति कठिन कार्य भी सरल बनेगा;
गरल बनेगा सुधा, उपल भी तरल बनेगा।
विना चले तो गरुड़ भी नहीं एक पद हिल सके—
चलनेवाले कीट को मेरु-शिखर भी मिल सके।

(२२)

"इससे अब आलस्य छोड़कर काम करूँगी;
मैं भी हूँ कुछ वस्तु, कष्ट फिर क्यों न हरूँगी।
आते मोती हाथ महासागर में पैठे;
होता कुछ भी नहीं इस तरह बैठे-बैठे।
सावित्री क्या स्त्री न थी, मुझे न किसने स्त्री कही?
थी वह आधी * रह गई, मैं तो हूँ सारी सही।

(२३)

"पुरुषो! स्त्री को आप भला, अबला कहते हैं—
जिसके पीछे आप बली बनकर रहते हैं।
छोड़ो मिथ्या गर्व, मार्ग पर सीधे आओ;
वन में † एकाकिनी छोड़ मत उसको जाओ।
कारण जो संसार का उसकी अवनति कर रहे,
क्यों अपने ही हाथ से विना मौत के मर रहे।

---

* सत्यवान की असामायिक मृत्यु से। † नल की ओर संकेत।

(२४)

"कान * खोलकर आप सुनो अब बड़े ध्यान से—
रखते सुर भी सदा वधू को महा-मान से।
राम-नाम के प्रथम नाम सीता का आता—
यही नियम है सभी सृष्टि में पाला जाता।
होता महिला-मान के पीछे मानव-मान है;
करके उसका † त्राण वह देती पहला ज्ञान है।

(२५)

"करते हैं वे पुरुष सभी धरणी का शासन—
रखते हैं जो सदा उच्चतम स्त्री का आसन।
पूजित होकर स्वयं पूजते जो नारी को—
मनुज ‡ हुए भी, मुदित करें वे दनुजारी को।
छिन जाती है हाथ से उन मनुजों की संपदा—
पत्नी को जो मानते पदत्राण × के सम सदा।

(२६)

"शीघ्र अधोगति-गर्त बीच वह देश गिरेगा;
वही बनेगा दास, उसी का भाग्य फिरेगा।
जिसमें स्त्री अपमान पुरुष करते रहते हैं;
जिसमें रमणी-रत्न रुदन कर दुख सहते हैं।
पति को सब अधिकार है, जहाँ वधू को कुछ नहीं—
है ऐसा भी देश क्या हो सकता उन्नत कहीं?

---

* अपने पति पर कटाक्ष। † नव-मास में। ‡ व्यंजना से म्लेच्छ।
× "जूती टूट गई, और परसों पहन लेंगे", पत्नी के मर जाने पर भारतवर्ष में मूर्ख पति ऐसा ही कहते हैं।

(२७)

"एक चक्र से नहीं चलेगा यान कभी भी ;
पा सकता अर्धांग नहीं यश-मान कभी भी ।
अंग अधूरा काम करेगा सदा अधूरा ;
पूरा पाठा क्यों न करेगा उसको पूरा ?
वे ही शासन देश का कर सकते गुणवान हैं—
महिला के जो मान को मान रहे निज मान हैं।"

(२८)

यों कहकर चल पड़ी, धैर्य को वह धारण कर—
वणिकों के पद-चिह्न देखती हुई भूमि पर ।
पद-पद पर वह गहन गहन बनता जाता था ;
कहीं-कहीं पर मार्ग कठिनता से पाता था ।
भैमी सबसे पूछती उठा-उठाकर हाथ को—
"क्या तुमने देखा कहीं मेरे जीवन-नाथ को ?"

(२९)

करते थे इनकार सभी उसको वे तरु - वर—
मानो शाखा और दलों को हिला-हिलाकर ।
अर्जुन और अरिष्ट आँवले थे वन - अंदर-
इमली, ईख, कदंब और खजूर मनोहर ।
ताल, प्रियाल, रसाल थे, शाल, शाल्मली थे रुचिर—
वेत्र, वेणु भी थे वहाँ वेर, बील, किंशुक, खदिर ।

(३०)

सिंह, शृगाल, विडाल, भालु थे कई भयंकर—
वृश्चिक, वृक थे, व्याघ्र, कृष्णमुख-वानर सुंदर—
गैंडे, सूकर और महिष थे चीते कुंजर—
काले, पीले हरिण, मृगी, मृग-शावक लघु-तर—

बड़े-बड़े शार्दूल थे, कई तरह के व्याल थे ;
एक दूसरे के लिये हो जाते जो काल थे।

(३१)

नीलकंठ, कलकंठ, कोक, कलरव थे चातक ;
कुक्कुट, काक, उलूक, श्येन, खंजन, कुररी, बक।
द्रोणकाक थे, चटक, चील्ह, चटका, चिमगादर ;
क्रौंच, कंकखग, गीध और थे नाना नभचर।
हंस-वंश-अवतंस थे, दंश, मक्षिका क्षौद्रकर*—
थे पतंग भी गहन में और जंतु, झींगर, भ्रमर।

(३२)

कहीं वालुका बिछी हुई थी, उपल कहीं पर ;
थी हरियाली कहीं-कहीं, थे नीरस तरु-वर।
कहीं कूप थे, और कहीं पर वापी सुंदर ;
कहीं - कहीं जल - युक्त, कहीं थे शुष्क नदी सर।
भूमि कंटकाकीर्ण थी, कहीं-कहीं थे भूमिधर—
बहते थे जिनसे सदा झरने करते झरर-झर।

(३३)

तरु से लिपटी हुई लताएँ ललित कहीं थीं—
जो भैमी के विरह-कष्ट को बढ़ा रही थीं।
फलित-प्रफुल्लित वृक्ष कहीं पर थे छवि छाते—
जो उसको थे पुत्र-सुता की याद दिलाते।
मंजु-कुंज-वैभव निरख शोक उसे था हो रहा—
था जो उसके हृदय में दुख-बीजों को बो रहा।

---

* शहद बनानेवाली। मधु क्षौद्रं माक्षिकादि। इत्यमरः।

(३४)

निर्जन वन में कहीं-कहीं कल-कल होता था ;
पलल-पलल जल-शब्द, कहीं पल-पल होता था।
गज चिंघाड़ें कहीं, कहीं थे सिंह गरजते ;
थे चटकादिक विहग कहीं कोलाहल करते।
आनन-फ़ानन में महा कानन तय उसने किया—
आश्रम में विश्राम फिर रजनीमुख * में ले लिया।

(३५)

हुई प्रतीची रक्त, भीमजा-विरहानल में ;
थे मानो रवि छिपे धूम से नभ-मंडल में।
करते हाहाकार यही थे सारे खेचर—
आकर देगी जला हमें भी अग्नि † भयंकर।
इस अनिष्ट को नष्ट ही करने को थे कर रहे—
संध्योपासन साधुजन, और पाप थे हर रहे।

(३६)

लगा पूछने उसे एक आकर तापस-वर--
"हे सुंदरि ! तुम कौन, यहाँ पर आईं क्योंकर ?
वन-देवी हो आप, बताओ या सुर-जाया —
गिरा, इंदिरा, उमा, रमा, अथवा हो माया ?
या आश्रम - लावण्यता ललना-तनु में सोहती ;
रमणी-शोभा या यहाँ धरणी-श्री को मोहती ?"

(३७)

"सुनो तपोधन ! एक मानवी मैं साधारण ;
वन-वन फिरती फिरूँ, धन्य जीवन-धन-कारण।

---

* सायंकाल में। † दमयंती का विरहाग्नि।

चले गए वे छोड़ मुझे इस गहन गहन में;
था विकार उत्पन्न दुष्ट-कृत उनके मन में।
भूपर छाई कीर्ति है उन नैषध अभिराम की;
भीम-सुता हूँ मैं प्रभो! दमयंती इस नाम की।

(३८)

"प्राणनाथ हैं कहाँ, कहो तुम कृपानाथ हो;
चिंता - पावक - हेतु आप ही शीत पाथ हो।
हो तुम मेरे पिता और हो तुम ही माता;
हैं सुख में सौ साथ, दुःख में एक न आता।
आश्रम * मेरे जीव के क्या आश्रम में रह रहे?
प्रिया-विरह की वेदना कहो प्रभो! क्या सह रहे?"

(३९)

"नहीं - नहीं दमयंति! झूठ है तेरा कहना—
आना ही जब नहीं हुआ, तो कैसा रहना?
तप के बल से यही तुझे † हम बतला सकते—
अबला! तेरे लिये उसे हम अब ला सकते,
किंतु हमें आज्ञा नहीं उस जगदीश्वर की अभी—
पर अवश्य होगा मिलन तेरे से उसका कभी।

(४०)

"विरह-वेदना अधिक, पुरुष को होती स्त्री से;
होता जिसको दुःख पूछ लो उसके जी से।
नारी तो कर रुदन उसे कुछ हर सकती है,
किंतु पुरुष की प्रकृति उसे अंदर रखती है।
बसती उसमें गुप्त है संकल्पों की आपदा;
मन-ही-मन में और वह घुटता रहता है सदा।

---

* प्राणाधार। † तेरे पति को।

(४१)

"नहीं समझ तू सके अलख* ईश्वर की माया ;
तू क्या, उसका भेद नहीं हमने भी पाया।
रहे लापता वही, दृष्टि में कहीं न आता,
पत्ता - पत्ता किंतु पता उसका बतलाता।
बिना ईश-आदेश के सुख-दुख कुछ मिलता नहीं—
पानी भी हिलता नहीं, नीरज भी खिलता नहीं।

(४२)

"ऐसा मन में मान, धैर्य को कर तू धारण ;
है तू सच्ची सती, नहीं नारी साधारण।
जग†-जननी ने देख, दुःख कितना था पाया ;
थी गीता - सम ज्ञान - दायिनी सीता - माया।
इस नव-फल को शीघ्र खा और देख इसका विभव‡—
भूख-प्यास जिससे नहीं तुझे लगेगी दिवस नव।"

(४३)

खाकर अद्भुत भक्ष्य भीमजा सुखी हो गई ;
पति-चिंता में लीन हुई फिर वहीं सो गई।
उठकर प्रातःकाल तपोवन - दृश्य निहारा—
उसका चित्त-शरीर हो गया हलका सारा।
ऋषि-वर-वचन-प्रताप से था उसको संतोष सब—
तो भी रहती लगन यह, होगा प्रिय से मिलन कब।

(४४)

हरे-भरे थे वृक्ष लतादिक जिसके अंदर—
लगते थे जो धूम-पीत बन महा मनोहर।

---

* अपभ्रंश। † अपभ्रंश। ‡ व्यंजना से प्रभाव।

होते वे यों ज्ञात, फूल-फल-दल-दल* लदकर—
ग्रीष्म-ताप से पहन लिया मानो पीतांबर।
चलने से कुछ वायु के कंपमान थे वे नहीं—
मानो थे वे प्रेम से ध्यानावस्थित सब कहीं।

(४५)

द्विज-मुख-हिमगिरिराज-श्रेष्ठ से उस पर गिरकर—
वेद-गिरा की गिरा † उसे करती थी शुचि-तर।
विप्र-श्मश्रु‡-शिव-जटाजूट से अथवा उस पर—
वहनशील थी वेद - मंत्र - गंगा-धारा - वर।
होम-वह्नि की धूम थी, या दमयंती-दुःख सब—
जल-जल करके भस्म हो, उड़ता था नभ और तब।

(४६)

थे मृग-शावक-मध्य केसरी करते क्रीड़न;
कपि-शिशु-आसन बने हुए थे महा-मृगादन ×।
लघु-वत्सों को दूध बाघिनी पिला रही थी;
श्येन-सुतों को धान्य कपोती खिला रही थी।
था स्वाभाविक वैर जो, उसको मन से त्यागकर—
बसते थे सुख से सदा वहाँ सभी पशु, व्योमचर।

(४७)

कहीं तपोवन-मध्य तपस्वी तप करते थे;
कहीं ध्यान में मग्न साधुजन जप करते थे।
कहीं-कहीं था वेद-शास्त्र का होता पाठन—
कहीं तापसी-वृंद कर रहा संध्योपासन।

---

* समूहवाची। † सरस्वती-नदी। ‡ डाढ़ी, मूछ। × चीते।

कहीं धेनु जाती दुही, कहीं शंख थे बज रहे—
कहीं देव-मंदिर रुचिर थे सुमनों से सज रहे।

(४८)

वह आश्रम को देख विमोहित होकर उस पर—
चली 'चेदि' की ओर तपस्वी-आज्ञा लेकर—
तीन दिवस पश्चात नगर में पहुँची बाला—
था जो महा विशाल और सुंदरता-शाला।
उसको पगली मानकर, उपल उठाकर हाथ में—
लगे दौड़ने वेग से बालक उसके साथ में।

(४९)

राजमहल से देख रही थी करुणा-सागर—
उसकी ऐसी दशा राज-माता गुण-आकर।
निज दासी के हाथ शीघ्र उसको बुलवाकर—
बोली उससे वचन सुधा से महा मधुर-तर—
"सुर-कन्या या मानवी दोनों में से कौन तुम?
स्पष्ट बात मुझसे कहो, रहो न भय से मौन तुम।

(५०)

"ऐसा सुंदर रूप नहीं है मैंने देखा;
कहाँ मलिन-पट-तिमिर, कहाँ यह विद्युत-रेखा!!
मेरी भगिनी *-सुता भीमजा थी अति सुंदर—
थी तुम-जैसी नहीं, किंतु वह महा मनोहर—
संभव है, इस काल वह यौवन पूरा प्राप्तकर—
नल-समीप है हो गई होगी ऐसी नारि-वर।"

---

* भानजी। दमयंती इसकी असली भानजी थी।

(५१)

सुन मौसी के वचन भीमजा पीत पड़ गई;
खड़ी हुई थी, किंतु वहीं-की-वहीं गड़ गई।
थी चिंता यह, "भेद इसे कैसे बतलाऊँ;
पति ने छोड़ा मुझे बात यह क्यों जतलाऊँ।
क्या समझेगी यह मुझे, नल-त्यक्ता है भीमजा;
इसके कुछ अपराध पर है पति ने इसको तजा।

(५२)

"क्योंकि जन्म से स्त्रियाँ बुद्धि-हीना होती हैं;
संदेहों के गेह-मध्य ही वे सोती हैं।
कहती क्या हैं, और हृदय में क्या रखती हैं;
अपने मन का हाल नहीं वे कह सकती हैं।
साधारण त्रुटि को सदा महा दोष वे जानती—
अपने को सबसे चतुर हैं वे मन में मानती

(५३)

"चढ़ * जाता है बात-बात में उनका पारा;
होता उनका ज्ञान सभी वेदों से न्यारा।
करके नर को वश्य, छोड़कर वाणी-सर को—
करती सिर को उठा नष्ट हैं वे घर-भर को।
जादू-टोना ही सदा पहला उनका कर्म है—
ईर्षा उनका धर्म है, रोना उनका वर्म † है।

(५४)

"महिलाओ ! ये दोष छोड़ना सहज नहीं है;
रमणी इनसे रहित भूमि पर कहीं-कहीं है।

---

* ज़रा-ज़रा-सी बातों पर कोप करना, ऐंठ जाना, नाराज़ हो जाना। † निज रक्षार्थ ढाल के समान।

इन दोषों से नीच हुई तुम मनुज-दृष्टि में—
जिसने इनको तजा, कामिनी वही सृष्टि में।
इनके कारण कर रहे शासन तुम पर आज नर—
भामिनियो! तजकर इन्हें सावधान हो शीघ्र-तर।"

(५५)

ऐसा मन में सोच, पास वह बोली जाकर—
"चेदि-स्वामिनी! सुनो रूप-मति-करुणा-सागर!
मुझे मानवी एक आप साधारण मानो—
उत्तम कुल की और मुझे सैरंध्री जानो।
बिछुड़े मुझसे गहन में मेरे प्यारे प्राणधन;
ढूँढ रही हूँ मैं उन्हें खोज-खोजकर नगर-वन।

(५६)

"जाने दो अब मुझे करूँगी क्या मैं रहकर?
पुर में पति को मुझे ढूँढना है अब दिन-भर।
राजकाज का भार प्रथम ही तुम पर दुस्तर—
क्यों फिर चलती व्याधि मोल लेती हो सिर पर?
जन्मी मैं दुख भोगने, मेरा सुख है सो रहा;
धन्यवाद है आपको की करुणा तुमने महा।"

(५७)

"हे सैरंध्री! वचन कहे हैं तूने उत्तम,
पर मैं चाहूँ तुझे पास में रखना हरदम,
क्योंकि 'सुनंदा' सुता चाहती सखी एक है;
तुझ-जैसी के लिये कर रही बहुत टेक है।
होकर के उसकी सखी कुछ दिन तक तू रह यहीं;
पति-अन्वेषण-हेतु मैं भेजूँगी द्विज सब कहीं।

(५८)

"यहीं कहीं पर तुझे प्रेममय स्वामी तेरा—
मिल जावेगा शीघ्र मिटाने विरह-अँधेरा।
किसी तरह का क्लेश यहाँ पर तुझे न होगा—
अब तक तूने दुःख भला भोगा सो भोगा।
सबसे उत्तम बात यह सखी-प्रिया है वह सदा;
प्राणों से प्यारी तुझे रक्खेगी वह सर्वदा।"

(५९)

"धन्य-धन्य हो आप दीनजन-पालक जननी!
किंतु आपके और नहीं है मेरे बननी,
क्योंकि वहाँ पर पुरुष कभी भी मुझे न पाते—
जहाँ न मेरे नियम ध्यान से पाले जाते।
आप महारानी भला, पास न मेरे शत्रुहर*;
क्या कह करके, आप क्या कर सकती हैं कोप कर।

(६०)

"राजाओं की रीति सदा होती है उलटी;
भूले हैं वे पुरुष कहें जो उसको सुलटी।
जो उन पर विश्वास करेगा, वही मरेगा;
उनको जिसकी चाह हुई, वह आह भरेगा।
उनकी हाँ-हाँ में भला ना रहती छिपकर सदा;
कृपा-पात्र जो भूप का, उसकी दुखदा संपदा।

(६१)

"कहलाता वह मूक, मौन-युत जो रहता है;
होता वह वाचाल, सत्य को जो कहता है।

---

* मेरे पति।

है गर्वीला वही ज्ञान को जो गहता * है,
निर्बल बनता वही दुखों को जो सहता है।
महा मूढ़, अति दुष्ट भी उसे भूप है मानता—
उसकी हाँ-में-हाँ सदा जो न मिलाना जानता।

(६२)

"हाथी के-से दाँत, वचन हैं उनके माने †;
हैं खाने के और, दूसरे हैं दिखलाने।
उनकी भूषित देह बेर - फल - सम कहलाती।
है अंदर से कठिन मृदुल बाहर से पाती,
किंतु भले भी भूमिपति होते हैं इस भूमि पर—
कृपा-पात्र जिनके सुखी और सर्वदा हैं निडर।"

(६३)

सुन ऐसी नृप - नीति, राज - माता ने हँसकर—
कहा—"सुंदरी सुनो ! एक-से नहीं सभी नर।
तरह - तरह के भूप जन्मते भू पर आकर—
इसका वाद - विवाद व्यर्थ मत करो परस्पर।
हैं जो-जो अपने नियम, कह दो उनको प्रेम से—
रहो सुनंदा-निकट तुम निर्भय होकर क्षेम से।"

(६४)

"खाऊँगी उच्छिष्ट किसी का नहीं कभी मैं;
पद - चापन के सिवा करूँगी काम सभी मैं।
अन्य पुरुष से बात कभी भी नहीं करूँगी;
पति - अन्वेषण - हेतु भेज द्विज, क्लेश हरूँगी।
बुरी प्रार्थना जो मनुज मुझसे करने आयगा।
प्राण-दंड पाकर वही तुमसे मारा जायगा।"

---

* प्राप्त करता है। † पंडितों ने।

(६५)

"है सब कुछ स्वीकार," राजमाता यों कहकर—
उठी और फिर उसे दिखाया अपना घर-भर * ।
समाचार सुन सुखद सुनंदा वहाँ आ गई—
सोना और सुगंध सखी में उसे पा गई ।
वे दोनो आनंद से हिल-मिलकर रहने लगीं ;
दमयंती-दुख-सिंधु में सब सखियाँ बहने लगीं ।

(६६)

जादू-टोना-मंत्र-जंत्र वे करतीं पल-पल—
सखी-शोक के नाश-हेतु रहती थीं सुविकल ।
दूतों को उपहार ख़ूब ही वे देती थीं ;
विप्रों को भी पूज-पूज आशिष लेती थीं ।
राजा के आदेश से मंत्री सारे व्यग्र थे—
सैरंध्री-पति ढूँढ़ने पुरवासी भी अग्र थे ।

(६७)

भीम-नगर में पहुँच गए थे समाचार सारे नल के ;
नृप को कल्प कई लगते थे उनके विना एक पल के ।
सब विदर्भ में फैल गई थी उन दोनो की महा व्यथा ;
कैसे हुआ युगल†-अन्वेषण, है आगे अब यही कथा ।

---

* महल-महलात, बाग़-बाग़ीचे सभी कुछ । † नल-दमयंती-युग्म का ।

चौदहवाँ सर्ग

(१)

घनन घननक्ष* कर नील गगन में जो घन आते-जाते थे—
वे न मेघ थे, किंतु मनोहर सुर-कुंजर मदमाते थे।
चमक रही थी चपला चम-चम नहीं, किंतु तलवारें थीं ;
नहीं धवल थी बकावली, वे पावस-सैन्य-कतारें थीं।

(२)

इंद्र-धनुष का दृश्य न था, वह चढ़ा हुआ था धनु सुंदर ;
थीं वे वर्षा की न विंदुएँ, बाण-वृष्टि थी वह अतितर।
ओले गिरते नहीं, किंतु वे गोले पड़ते थे तप पर ;
डरा रहा था यों निदाघ को इंद्र गर्जना कर, कर, कर।

(३)

नदियों का जल समल हो गया ग्रीष्म-चिता-रज से मिलकर ;
वृक्ष-लतादिक हरे-भरे थे हर्षित हो अरि के क्षय पर।
सुरपति के स्वागत-हित भू ने हरी बिछा दी थी मखमल ;
वापी-कूप-तड़ाग-हृदय भी बढ़ता था मुद से पल-पल।

(४)

अतुलित जल-समूह को पाकर सिंधु न कुछ भी चढ़ता था ;
तजता था न कार को अपनी और न तट पर बढ़ता था।
अपनी दशा दिखाकर सबको देता था वह यह उपदेश—
वैभव पाकर भी न करो तुम निज मर्यादा को निःशेष।

---

* अपह्नुति के उदाहरण।

(५)

कहीं भ्रमर गुंजार रहे थे, कहीं शिखी नर्तन करते ;
कहीं-कहीं जल-क्रीड़ा करके जलचर थे मन को हरते।
हरे-भरे आमों के ऊपर सुंदर फल रसभीने थे ;
इंद्र-मार्ग में जुगुनू होकर गिरते रत्न-नगीने थे।

(६)

ऐसा जगत-सौख्य-कर पावस कष्ट भीम को देता था ;
चिंतित-कर्णधार-नौका को शोक-नदी में खेता था।
क्योंकि अभी तक नल-भैमी का पता न उनको पाया था ;
नहीं एक भी दूत हर्ष के समाचार कुछ लाया था।

(७)

एक दिवस फिर 'चेंद'-नगर में वह 'सुदेव' पहुँचा जाकर—
नाथ-विहीना सैरंध्री के समाचार सौख्यद पाकर—
लगा पूछने—"कैसी है वह, और कहाँ वह रहती है ?
निज पति का क्या नाम बताती, अपने को क्या कहती है ?"

(८)

जान काम की बातें वह फिर शीघ्र गया रनवास-निकट—
जिसके चारो ओर खड़े थे अस्त्र-शस्त्र-धर सुभट विकट।
था रानी का महल वहाँ पर बीचोंबीच बड़ा भारी—
जिसमें उच्च झरोखे पर थी बैठी हुई एक नारी।

(९)

मृग-शावक के हाव-भाव को जिसके लोचन अति सुंदर—
लजा रहे बस बार-बार थे उस वातायन के भीतर।
प्रिय को खोज-खोज लगते थे वे ऐसे शोणित होकर—
विकसित-कलित-कोकनद-युग हों मानो रूप-सुधा-सर पर।

(१०)

पहचाना 'सुदेव' ने उसको, भैमी ने उसको जाना ;
निज भ्राताओं का वर सहचर मन में और उसे माना ।
भेज सुनंदा की सखियों को ऊपर उसको बुलवाया—
कर सत्कार, कुशल-मंगल का समाचार उसने पाया ।

(११)

दीन-दशा में उसे देखकर वह द्विज शोक-विमज्जित था ;
अपने को असहाय जानकर और चित्त में लज्जित था ।
अपनी बहन-समान भीमजा लगती थी उसको ऐसी—
चंद्रकला मेघों में कुछ-कुछ छिपी हुई होवे जैसी ।

(१२)

अथवा निषध-मंजु-मानस में नल-रवि के कर-कर दर्शन—
सदा प्रफुल्लित जो रखती थी भैमि-पद्मिनी अपना मन—
आज उसे दुर्भाग्य-नाग ने अपने कर से तोड़ लिया—
और क्लेश के महा तिमिर में मानो उसको डाल दिया ।

(१३)

दीप-शिखा की दीप्त कांति को दिन जैसे हर लेता है ;
जिस प्रकार कुमुदिनी-व्याधि को सूर्य अधिक कर देता है ।
वैसे ही भैमी-चिंता का विरहानल था बढ़ा रहा,
किंतु पीत-दुर्बल-कृशतन पर अधिक रूप था चढ़ा रहा ।

(१४)

पावक में रह स्वर्ण-शलाका हो जाती जैसे निर्मल—
उसी तरह विरहानल द्वारा बनती थी भैमी उज्ज्वल ।
सान चढ़ी मरकत-मणि-जैसी आभा वह दिखलाती थी—
और तापसी-तन की कृशता उसके तन पर पाती थी ।

(१५)

अस्त-चंद्रिका के ही सम थी वह अति अनुपम-सुषमा-हीन ;
शुष्क-सुमन-लतिका-सी थी वह विरहातप पाकर अति पीन * ।
महा-गहन शैवाल-जाल में फँसी हुई वह हंसी थी ;
व्रज में गत-रव पड़ी हुई वह कृष्ण-विरह-रत वंशी थी ।

(१६)

ऐसी भैमी को वह द्विज-वर बहुत सांत्वना देता था ;
दुख-सर में जीवन - नौका को कर्णधार बन खेता था ।
ठहर वहाँ दो-चार दिवस फिर साथ भीमजा को लेकर—
वह विदर्भ की ओर चल पड़ा उन सबको आशिष देकर ।

(१७)

थे 'सुबाहु' के शतशः सैनिक उन दोनो को पहुँचाने ;
स्यंदन थे, सुंदर सखियाँ थीं भैमी का मन बहलाने ।
मंगल गाते ठाट-बाट से भीम-नगर में गए सभी—
जब देखा भैमी को, आया सबके जी में जीव तभी ।

(१८)

की राजा ने यही घोषणा "जो नैषध को लावेगा—
धेनु-सहस्र-धान्य-धन-धरणी वह जन हमसे पावेगा ।"
सुन इसको 'पर्णाद' विप्र ने कमर कसी फिर जाने को ;
उठा लिया यों बीड़ा उसने निषध-नाथ को लाने को ।

(१९)

सबसे चतुर जानकर उसको भीम-सुता ने बुलवाया—
और उसे धन-धान्य बहुत-सा दिलवाया फिर मनभाया ।
उसने कहा, "विप्र-वर ! सुनिए जहाँ कहीं भी तुम जाओ—
कहना मेरे इन वचनों को उसे, जिसे सम्मुख पाओ ।

---

* पुष्ट, तेज ।

(२०)

"आधा वस्त्र काटकर मेरा कहाँ गए तुम जीवन-धन !
उसी वस्त्र को पहने-पहने तुम्हें ढूँढ़ती हूँ वन-वन ।
विरहानल से जल-जलकर मैं रात और दिन रोती हूँ ;
मैं ही जानूँ मेरे जी की, कैसे पल-पल खोती हूँ ।

(२१)

"स्त्री-रक्षा है धर्म मनुज का क्यों उसको तुम छोड़ चले ?
अनुरक्ता-दीना-अबला से क्यों अपना मन मोड़ चले ?
उत्तर दो आने का, मैं अब अर्ध-मृतक होकर जीती—
कब तक हाय ! निराशा-विष की रहूँ घूँट यों ही पीती ?

(२२)

"इन वचनों को सुनकर इनका उत्तर दे तुमको जो नर—
उसका पूरा विवरण लाना सोच-समझकर हे द्विजवर !
पूर्ण-मनोरथ तुम हो जाओ, मेरी हरि से यही विनय ;
मंगल-प्रद हो मार्ग तुम्हारा, हो सुकर्म में शीघ्र विजय ।"

(२३)

इसके पीछे उस ब्राह्मण ने शुभ मुहूर्त में कूँच किया ;
कई पुरों को ढूँढ़ अंत में श्रेष्ठ-अयोध्या-मार्ग लिया ।
वहाँ पहुँचकर जिससे मिलता, कहता ये ही उसे वचन—
"आधा वस्त्र काटकर मेरा कहाँ गए तुम जीवन-धन !"

(२४)

किंतु किसी ने दिया न उत्तर उन वचनों का उसे कहीं—
होकर वह हताश निज मन में कई दिनों तक रहा वहीं ।
करता था वह विनय निरंतर—"मेरी सुन लो हे ईश्वर !
हरे ! हरो यह क्लेश, कृपालो ! करुणाकर ! हे करुणाकर * !

---

* दया की खान ।

(२५)

"आज रामनगरी में भी जो राम करेंगे काम नहीं—
तो अब मिलना नहीं ठिकाना भक्तों को है और कहीं।
दीनानाथ! आप भैमी को क्यों अनाथिनी हो करते?
दीन-बंधु कहला क्यों नल को बंधु-हीन कर सुख हरते?

(२६)

"काम* राम-श्रीराम! आपको काम† बिना कुछ काम न हो;
हे बलधाम! कभी दुर्वासा, परशुराम भी वाम न हो।
चींटी का बिल ही ढूँढ़ूँ क्या, क्या मुहँ ले विदर्भ जाऊँ?
डूब मरूँगा अब तो जो मैं चुल्लू-भर पानी पाऊँ।

(२७)

"पूर्ण मनोरथ कर दो रघुवर! तुमहीं मेरे रक्षक अब—
गया समय फिर हाथ न आता, दया आपकी होगी कब?
गंगा अवहरता जो तज दे, तो न नीच हो निंद्य कहीं;
ऋद्धि-सिद्धि जो तजे अयोध्या तो मेरी अपकीर्ति नहीं।

(२८)

जब तक 'अहमिति' साथ रहेगी, श्रद्धा है अपने बल में—
तब तक सरल कार्य भी अपना पड़ा रहेगा हलचल में।
अपने बल को तुच्छ मान जब आत्मसमर्पण हम करते—
तभी सफलता हमें मिलेगी, तभी ईश दुख को हरते।

(२९)

कर विश्वास स्वबल पर मानव जो हरि से भी करे विनय—
तो इस धोखेबाजी से ही उसको मिलती नहीं विजय।
आत्मसमर्पण करने पर ही हरि से विनय सुनी जाती—
और प्रभाव डालती है वह स्वार्थ-हीनता जब पाती।

---

* कामदेव के समान सुंदर (अभिराम)। † इच्छा, मरज़ी।

(३०)

यही दशा थी द्विज की, जो अब आत्मसमर्पण करता था ;
ईश-शक्ति पर मुग्ध हुआ वह, स्वबल-गर्व को हरता था ।
ऐसा होने पर ही स्वीकृत भक्त-प्रार्थना हो जाती,
किंतु अन्यथा इस भू पर ही विनय शून्य में खो जाती ।

(३१)

इसी समय मृगया से आकर बाहुक-सह ऋतुपर्ण वहाँ—
शांत हयों को वहीं कर दिया स्थित था वह पर्णाद जहाँ ।
वे ही वचन कहे ब्राह्मण ने, बाहुक ने जिनको सुनकर—
रुदन किया अति दुखी हिया कर, यही दिया उसको उत्तर—

(३२)

"सती-शिरोमणि को भी जो जन विजन-विपिन में छोड़ चला;
जान-बूझकर कर सकता था क्या वह ऐसा काम भला ?
बुद्धि-हीन, उन्मत्त हुआ जो उसकी त्रुटि पर दोष नहीं ;
पतियों के ऐसे दोषों पर सतियाँ करतीं रोष नहीं ।

(३३)

"होनी तो होकर ही रहती, अनहोनी होती न कभी ;
हाय-हाय होनी पर करके महिलाएँ रोतीं न कभी ।
द्यूत खेलना, राज्य त्यागना, निर्धन बन रोना-धोना—
वन-वन फिरना, स्त्री को तजना, होनी बिना न यह होना ।

(३४)

"वीर-वीर-जाता कहलाकर और वीर-माता होकर—
जिसने देकर वस्त्र दया की खग-वंचित अपने पति पर—
वह पति-भक्ता सती-धर्म को नहीं कभी भी छोड़ेगी,
अति दीनों से—मति-हीनों से—क्यों अपना मन मोड़ेगी ?

(३५)

"मानव से भी त्रुटि होती है, वह भी प्राणी कहलाता—
दंड मिला उसको, जो जैसा बोता है, वैसा पाता।
जो होना था, वही हो चुका, और बिंध गया सो मोती,
सती गई को जाने देती, रही-सही न कभी खोती।

(३६)

"पतिव्रता के हृदय-सिंधु में अधिक कृपा है, कोप नहीं;
तृण - पावक से ऐसा सागर हो सकता क्या उष्ण कहीं?
जहाँ प्रेम है, दया वहीं है, जहाँ दया है, धर्म वहीं—
जहाँ धर्म है, वहीं विजय है, जहाँ विजय है, मुक्ति वहीं।"

(३७)

सुनकर ऐसी करुण गिरा को लगा सोचने वह द्विज-वर—
"हा ऋतुपर्ण - सारथी होकर यह देता ऐसा उत्तर!
नल राजा तो रूपवान थे, यह कुरूप है कैसा नर!
फूट-फूटकर क्यों यह रोता है कुछ भेद यहाँ गुरुतर।

(३८)

"इसी श्रेष्ठ उत्तर को लेकर चल देता हूँ वहाँ अभी—
ईश दयानिधि सफल करेंगे आज नहीं तो और कभी।"
पहुँच विदर्भ देश के अंदर कुछ दिवसों पीछे द्विज-वर—
हर्षित हुआ सुना भैमी को सुन आया था जो उत्तर।

(३९)

निज माता की आज्ञा लेकर द्विज सुदेव को बुलवाया।
हाथ जोड़कर नम्र भाव से बोली उससे नल-जाया—
"हे 'सुदेव'! मुझ शोक-मृता को तुम्हीं जिलानेवाले हो;
कुशल-समाचारों का मुझको सुधा पिलानेवाले हो।

(४०)

"मा-बापों से मुझे मिलाया, आभारी है यह काया ;
　　बंधु ! तुम्हारे श्रेष्ठ यत्न में पुनर्जन्म मैंने पाया ।
जाओ तुम साकेत इस समय, समाचार पति के लाओ ;
　　रहते वे ऋतुपर्ण-सूत बन, जाओ तुम जल्दी जाओ ।

(४१)

"वहाँ किसी से भी मत कहना, वहाँ भूप को बतलाना—
　　दमयंती का और स्वयंवर कल होगा यह जतलाना ।"
इसी तरह से काम हुआ सब, किंतु स्वयंवर की सुनकर—
　　होकर चकित कहा यह नृप ने बाहुक को बुलवा अंदर ।

(४२)

"हे प्रिय सूत ! अश्व-विद्या के दिखलाने का यह अवसर,
　　किंतु सामने पड़ा हुआ है पथ विदर्भ का अति गुरुतर ।
उस ललना का कल विवाह है, थी जो नल की प्राणाधार ;
　　पति ने क्या कर लिया बुरा, जो उसने ऐसा किया विचार ।

(४३)

"कल जो पहुँच सको तो कह दो, अपना जन्म सफल कर लो ;
　　शोभामृत से अक्षिपुटों को भर सकते हो, तो भर लो ।
मुँह का ग्रास नहीं यह बाहुक ! हँसी-खेल की बात नहीं ;
　　है यह टेढ़ी खीर, तमाशा इसे समझना तात ! नहीं ।"

(४४)

"ठीक-नीक है ऐसा कहना, किंतु विदर्भ देश-अंदर—
　　मैं प्रभु को कल पहुँचा दूँगा, झूठ नहीं है यह नृप-वर !
जाकर मैं लाता हूँ स्यंदन चिंता करो न कुछ मन में,
　　प्राण रहेंगे जब तक तन में, तब तक मैं पक्का प्रण में ।"

(४५)

इतना कहकर चला वहाँ से घूँट गरल की-सी पीकर ;
शोक छा गया और आ गए नयनों में लोचन*-शीकर।
लगा सोचने वह, "दमयंती कर सकती यों कभी नहीं,
किंतु असंभव भी हो जाता संभव जग में कहीं-कहीं।

(४६)

"दारुण दोष किया है मैंने उसका दंड भयद भोगा ;
जैसा काम किया है मैंने, है वैसा ही फल भोगा।
होकर गुणी बना मैं दोषी, इसमें कुछ संदेह नहीं,
किंतु वहाँ गुण भी अवगुण हैं, जहाँ हृदय में प्रेम नहीं।

(४७)

"ज्ञान-बुद्धि-हत हो जाता है मनुज कष्ट में पड़ा-पड़ा,
कर लेता है कभी-कभी वह काम कड़े से बड़ा कड़ा।
आगे-पीछे की सुध उसको नहीं ज़रा भी रहती है ;
भाग्य-भरोसे ही बस उसकी जीवन-नौका बहती है।

(४८)

"मानव-जाति दुःख के मारे भला क्या न कर सकती है ?
प्राणों से क्या प्यारा, पर वह उनको भी हर सकती है ?
मरता कहो क्या नहीं करता, वह सब कुछ कर लेता है ?
निज को करके नष्ट, कष्ट वह औरों को भी देता है।

(४९)

"रमणी स्वाभाविक ही चंचल, है अदूरदर्शी होती ;
त्रुटि होने से विकृत हुई वह पति के भी यश को खोती।
पति का अति परदेश-वास है पत्नी-प्रेम-नाशकारी—
और अतीव समागम भी है स्नेह-सूत्र का संहारी।

---

* शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः। इत्यमरः। जल-कण।

(५०)

"मुझसे अलग हुई भी भैमी सुख-हीना है नहीं कभी,
क्योंकि पिता, माता, सुत, कन्या हैं ये उसके साथ सभी।
मेरे लिये सुरों को तजना, प्रेम - सत्यता बतलाता ;
समाचार को मिथ्या मानूँ, यही चित्त में है आता।

(५१)

"इस जीवन में जीवन-जीवन मैं ही उसका रह सकता ;
नहीं स्वप्न में सती-चित्र भी है पर को पति कह सकता।
युक्ति गढ़ी यह मुझे बुलाने, या यह सच्ची बात सभी—
इसे देख लूँगा कल जाकर, क्यों मैं चिंता करूँ अभी।"

(५२)

बैठा फिर ऋतुपर्ण-भूप को वह विदर्भ की ओर चला—
वैनतेय * को लज्जित करने और वात से बात भला।
स्यंदन-घन का रव सुन केकी, केका † की करके नर्तन ;
कानन में, आनन चातक का, खुला सिंधु में शुक्ति-वदन।

(५३)

धूलि-मेघ-कृत धूमयोनि ‡ थे, कण-गण क्षण-क्षण चमक-चमक—
बतलाते थे नभ में मानो रही दामिनी दमक-दमक।
फेन-राशि अश्वों के मुख से उड़-उड़कर, गिरकर भू पर—
बनती थी घन-घनरस × -धारा उछल-उछलकर इधर-उधर।

(५४)

श्वेत रंग के श्रेष्ठ अश्व थे, बकावली समता पाते ;
बाहुक-मातलि साथ अयोध्यानाथ-इंद्र-सम थे जाते।

---

* वैनतेयो खगेश्वरः। गरुड। † केका वाणी मयूरस्य। ‡ बादल। जलमुक् धूमयोनयः। × मेघपुष्पं घनरसः। जल। इत्यमरः।

वन में करके सृष्टि वृष्टि की, पवन हो रहा था स्यंदन—
घनन-घनन शब्दों से उसके गूँज रहा था सारा वन।

(५५)

देख हयों का वेग-संग्रहण * लगा सोचने वह नृप-वर—
अश्व-तत्त्वविद् 'शालिहोत्र' यह या है कोई अजर-अमर।
नल राजा यह कभी नहीं है, क्योंकि है न यह शोभन-जन ;
देखा है न, इसलिये मातलि इसे मानता मेरा मन।

(५६)

हय-विद्या - शिक्षा पाने को इसे प्रलोभन दिखलाऊँ ;
अक्ष-गणित विद्या को मैं भी इसे प्रेम से सिखलाऊँ।
यों विचारकर कहा भूप ने—"हे बाहुक ! हैं अश्व विकल—
ठहर इसलिये इसी स्थान पर, और देख मेरा भी बल।

(५७)

"नहीं गणित-विद्याविद् मुझ-सा तुझे मिलेगा कोई नर ;
चमत्कार अब दिखलाता हूँ, देख वृक्ष पर सारथि-वर !
इसकी एक बड़ी शाखा में लटक रही है जो भू पर—
चौसठ फल हैं, नौ सौ दल हैं, सूखे हैं जिनमें सत्तर।

(५८)

"जो तू मेरी नहीं मानता, तो गिन ले जाकर तरु पर ;
गिनने में ही त्रुटि हो सकती, किंतु नहीं इनमें अंतर।"
गिनती कर नल बोले—"मैं भी हय-विद्या को सिखला दूँ—
जो तुम मुझको यह सिखला दो, तो मैं भी सब बतला दूँ।"

(५९)

"बाहुक ! दक्ष अक्ष-विद्या में मुझ-जैसा जन कहीं नहीं ;
उसकी भी मैं शिक्षा दूँगा, बिना कहे ही तुझे यहीं।

---

* रोकना, चलाना, वश्य रखना।

याद करो इन दो मंत्रों को, जिनका यह प्रभाव गुरुतर—
सिखला देगा विद्याओं को तुझे एक पल में नर-वर !"

(६०)

एक विशुद्धसरोवर ऊपर नल ने जाकर स्नान किया ;
जपने लगे मंत्र फिर मन से सरस्वती का ध्यान किया ।
मंत्र-प्रभाव-दग्ध उस कलि ने नल-तन से बाहर आकर—
नम्र भाव से कहे वचन ये हाथ जोड़कर, घबराकर—

(६१)

"हे वसुधा के रत्न ! अनूठे, हे भुवनों के वर-वैभव !
हे नृप-कुल के सुंदर दीपक ! मनुज-जाति के हे गौरव !
धन्य पिता-माता हैं तेरे, धन्य - धन्य तू कहलाया ;
धन्य - धन्य तेरी काया है, धन्य - धन्य तेरी जाया ।

(६२)

"तेरे सदृश नहीं त्रिभुवन में कहीं मिलेगा हितकारी ;
अद्वितीय तू कहलाता है सुर-नर-मुनि-मानसहारी ।
तुझ-जैसा तू ही है नैषध ! ऐसा भूप न और कहीं ;
कर सकता है देवनाथ भी तेरी समता कभी नहीं ।

(६३)

"भैमी*-महा-शाप से दारुण दाह देह में होती है ;
इन मंत्रों की शक्ति और भी चित्त-शांति को खोती है ।
इससे मैं अब बाहर आकर तुझसे करता यही विनय—
शरणागत तू मुझे मानकर कर दे मुझको अभी अभय ।

(६४)

"देता हूँ वरदान तुझे मैं पूर्ण-मनोरथ तू होगा ;
पावेगा अब कष्ट नहीं तू, भोगा सो अब तक भोगा ।

---

* सर्ग १२, छंद १४ देखो ।

तुझ पर तो क्या, नहीं पड़ेगा उस पर भी प्रभाव मेरा—
दमयंती का शाप यादकर नाम रटेगा जो तेरा।"

(६५)

नल ने कहा—"कले ! मैं तेरा कर सकता था मुँह काला ;
क्रोधित होकर अभी शाप मैं था तुझको देनेवाला,
किंतु आज शरणागत बन तू है पैरों पर पड़ा हुआ—
इससे मुझको रोक रहा यह वीर-धर्म है खड़ा हुआ।

(६६)

"अपने से बलवान शत्रु को सदा मारना है अच्छा ;
जो निर्बल पर हाथ उठाता वीर नहीं है वह सच्चा।
जा तू जहाँ चाहता जाना, मत आना अब हे निर्दय !
नहीं सताना किसी मनुज को देता हूँ मैं तुझे अभय।"

(६७)

इसके पीछे रथ पर आकर अश्वों को फिर चला दिया—
और शीघ्र ही पहुँच लक्ष्य पर नल ने अक्षय सुयश लिया।
स्यंदन-शब्द श्रवण कर भैमी कुछ-कुछ मन में मुदित हुई ;
नल-रवि-ऊषा-आशा उसके प्राची-उर में उदित हुई।

(६८)

योगी जैसे ब्रह्मज्ञान को, अति लोभी जैसे धन को,
पंडित जैसे वर-विद्या को, शूर-वीर जैसे रण को,
भ्रमरी जैसे सरस सुमन को, नीरज जैसे दिनकर को,
कुमुद चंद्र को, विषधर मणि को, महातृषित जल-युत सर को,

(६९)

चातक स्वाति-बिंदु को, ललना महा कुलीना निज कुल को,
उरगी मलयाचल-चंदन को, हंसी मोती मंजुल को—

और चाहती जैसे कोकिल आम्र-मंजरी-स्पर्शन को—
थी उससे भी अधिक चाहती दमयंती नल-दर्शन को।

(७०)

जल के बिना मीन हो जैसे तड़फ रही थी वह वसे;
उछल रही थी रथ-घन-रव सुन मंजु मयूरी हो जैसे।
उमा जिस तरह उमा-नाथ-हित 'उमा-शिखर' पर किलख * रही—
उसी तरह वह पितृ-गेह में नल के हित थी बिलख रही।

(७१)

पावक पर दर्पण-सम भैमी-विरह-भाग्य थे तड़क रहे;
दक्षिणांग थकने से मानो वाम-अंग थे फड़क रहे।
अशुभ-अमंगल काला मुखकर बिना कहे हो जाते थे;
शकुन सही होने को मानो आगे-आगे आते थे।

(७२)

भैमी-पयोधरों पर पल-पल पावरत्व क्यों चढ़ता था?
मानो उसका हृदय मिलन-हित उसके आगे बढ़ता था।
दर्शन-हेतु बढ़े श्रवणों तक उसके हरिण-नयन सुंदर;
सुनने को शुभ समाचार ही खड़े हो गए थे श्रुति-वर†।

(७३)

चंद्र-विनिंदक मुख-दर्शन से वंचित रह करके पल-पल—
भैमी-मध्यभाग होता था होकर विकल बहुत दुर्बल।
कच-कुच-महा भार सहने को थीं जंघाएँ अति पीवर—
नयन-मीन थे इससे मुख में, मानो मरा विरह-धीवर।

(७४)

हक्की-बक्की होकर ही वह दौड़ रही थी इधर-उधर;
छत पर जाती, नीचे आती, कभी किधर थी, कभी किधर।

---

* अत्यंत विह्वल होना। † सुंदर कान।

उसको यही ज्ञात होता था प्रिय-शरीर-आलिंगन कर—
रथ से उड़े हुए वे रज-कण पड़ते थे आकर उस पर ।

(७५)

उन्हें सूँघती, नहीं हटाती, मुग्ध अलिनि-सम हो उन पर,
क्योंकि उसे आता था उनसे नल-तन-नलिन-गंध सुखकर ।
वह * पराग-सौरभ होता था जैसे-जैसे महा विकट—
वैसे-वैसे मान रही थी वह दिनकर का उदय निकट ।

(७६)

हय †-शाला में मिल बाहुक से और काम की बातें कर—
कहा केशिनी ने भैमी से आकर के छत के ऊपर—
"सखी ! शोक अब क्यों करती हो, शीघ्र मिलेंगे जीवनधन ;
दो उपहार, न दो चाहे तुम, है उपहार-रूप यह क्षण ।

(७७)

"कंकण क्यों देती हो, मैं तो लूँगी कुछ उपहार बड़ा ;
आता ज़ोर हार देने में, सड़ता है जो पड़ा-पड़ा ।
नहीं कहूँगी सही बात मैं उसके आज विना पाए ;
मैं क्या करूँ, मुँह न चलता है विना मिठाई कुछ खाए ।

(७८)

"दे दो क्यों न उसे अब ही तुम माताजी से मँगवाकर—
बार-बार थोड़े ही आता सुनो सखी ! ऐसा अवसर ।"
"अरी केशिनी ! यों क्या कहती, पहले मीठा मुँह कर ले—
ले-ले कंकण और हार भी, गाँठ बाँध इनको धर ले ।

---

* नल के मुख-कमल का पराग । नल ज्यों-ज्यों निकट आते थे, त्यों-त्यों इसका गंध भी बढ़ता जाता था, और प्रातःकाल होने की सूचना भी मिलती थी । † दमयंती ने पहले ही से उसे वहाँ भेज दिया था ।

(७९)

"पर कह दे अब सारी बातें सही-सही हे सखी ! प्रिया ;
अरी, हठीली ! ये ले सब कुछ, कैसा तेरा कठिन हिया !"
"यह तो हँसी-मात्र थी भैमी ! आई हूँ नल-दर्शन कर—
आज बड़ा उपहार यही है, होगा क्या इससे बढ़कर ।

(८०)

"सखी, पूछना उनसे क्यों वे देह पलटते हैं पल-पल ?
कभी भला बाहुक बन जाते, और कभी हो जाते नल ।
एक वस्त्र है ऐसा, जिससे धोखा सबको देते हैं—
मदन-मोहिनी मूरत को भी अति कुरूप कर लेते हैं ।

(८१)

"क्यों ऐसी विद्या सीखी है, क्यों ऐसे चालाक बने ?
श्वशुर गेह पर भी आकर के क्यों न रहें वे बने-ठने ?
बिना अग्नि के अग्नि जलाते, रिक्त पात्र में जल भरते ;
तेरे प्रियतम काम अनूठे, क्या-क्या कहूँ, बहुत करते ।

(८२)

"महा कठिनता से है उनने अपना परिचय मुझे दिया ;
वे तो थे ही छली, भेद को तो भी मैंने जान लिया ।
कायापलट बने, पर क्या है ऐसा ढंग जमाने से ?
छिप सकता क्या कभी भूप का भाग्य विभूति रमाने से ?

(८३)

"चाहे छत्र सूर्य को ढक ले, चाहे सीपी सागर को,
चाहे गजमुक्ता गज-वर को, नीर-बिंदु भी गागर को,
चाहे तरु पत्ते के अंदर, चाहे घट में कूप छिपे,
चाहे अंजन के अँजने से ललना-लोचन रूप छिपे,

(८४)

"चाहे शिव के जटाजूट को ढक ले देव-नदी आकर,
चाहे चंद्र छिपे मेघों में, ढकें घनों को बक आकर,
चाहे सारे भूमंडल को ढक ले एक मृत्तिका-कण—
किंतु छिपाने से न छिपेंगे तेरे प्रिय के मधुर वचन ।

(८५)

"देह पलट ली, नहीं हृदय पर उनसे पलटा जाता है;
मुख बदला तो क्या, जब वाणी नहीं बदलना आता है।
अंग-रंग से तेरे प्रियतम मन का रंग छिपाते हैं;
हाथ छुड़ाकर जाते, तो भी सखी-हृदय में पाते हैं।

(८६)

"गेह पलटना, देह पलटना, हैं ये बातें साधारण—
किंतु नहीं बदले जा सकते जन से कभी कार्य-कारण
तन का रंग पलट लेने को, कौन पलटना कहता है—
कज्जल-जल में मज्जित होकर हंस हंस ही रहता है।

(८७)

"तेरे पाणि-ग्रहण के पहले, याद करो, वे ही हैं नल—
जिनने मृदु वचनों से मुझसे माँगा था पीने का जल।
उस वाणी का—सुधा-सरित का—कब मिठास जा सकता है;
नील-कंठ के नहीं कंठ में विष-प्रभाव आ सकता है।

(८८)

"इंद्रसेन को देख अंक में, आँखों में आँसू भरकर—
उनने कहा निसासा लेकर—'था मेरे ऐसा सुत-वर,
किंतु कहाँ वह चला गया है, यह है मुझको ज्ञात नहीं—
उसकी भगिनी, जननी भूली जाती है दिन-रात नहीं।'

(८९)

"बस इतने में ताड़ गई मैं, हैं ये अपर-वेष-धर-नल ;
आज भाग्य से हाथ आ गए करनेवाले हमें विकल ।
देकर मोदक वचन सिखाया इंद्रसेन को मैंने यह—
हाथ जोड़, तू इन वचनों को इस मानव से जाकर कह ।

(९०)

"बोला यह पास वह जाकर—'चिंता-हित अब रचो चिता—
मेरी सुध लो, परमपिता ने सौंपा मुझको तुम्हें पिता !
मेरी माता दुखी हो रही, जो विवाह में तुमने दी—
उसी अँगूठी का अब कर पर आज चढ़ा है उसने ली ।'

(९१)

"इतना कहना था कि उन्होंने उसे अंक में उठा लिया—
करते हुए रुदन, फिर उनने बार-बार अति प्यार किया ।
रथ की खोल किंकिणी सुंदर उसके कर में खे॰ दिया ;
उस अनमोल लाल से उनने प्रेम परमानंद लिया ।

(९२)

"मुझसे कहा—'आप ही कहिए, भैमि-स्वयंवर कब होगा ?
यह बालक क्यों इतना दुर्बल, क्या इसने कुछ दुख भोगा ?
नल का तो है पता नहीं, अब होगा कौन पिता इसका ?
हम भी यहाँ देखने आए सुंदर-वदन-नलिन जिसका ।'

(९३)

"इस ताने से क्रोधित होकर, मैंने भी ये कहे वचन—
'सुनो महोदय ! निर्दय होकर दमयंती के जीवनधन—
भूल गए हैं बिलकुल उसको नहीं तनिक भी पहचानें—
मनमानी - घरजानी करते, पत्नी अब न उसे मानें ।

(१४)

"'"इससे मेरी दुखी सखी ने आज स्वयंवर-प्रण पाला—
जिससे नृप-सम्मुख वह फिर से डाले नल-गल में माला।
नल अवश्य हैं यहीं कहीं पर, यह विश्वास हमें नर-वर!
इस बालक की दुर्बलता का अब उनको ही सोच-फ़िकर।

(१५)

"'"आज अवश्य स्वयंवर होगा, फिर से नल-दमयंती का—
जिससे सखी-शोक मिट जावे, भ्रम भी नैषध के जी का
छोड़ो सुत को आप, इस तरह क्यों इसको बहलाते हैं?
पहचाने पीछे भी देखो बहुरूपे न लजाते हैं

(१६)

"इतना सुनकर जान गए वे, मुझे न इसने पहचाना;
जान रही है केवल सारथि, नैषध नहीं मुझे माना।
इससे दिव्य वस्त्र को पहना, जिससे उनका अंग हुआ—
महा मनोहर, मानो भू पर फिर से अन्य अनंग हुआ।

(१७)

"फिर क्या था पहचान गए सब और भीम भी जान गए;
श्रेष्ठ अयोध्याधिप लज्जित हो अपनी त्रुटि को मान गए।
इंद्रसेन के साथ कर रहे हैं उनका श्रृंगार सभी;
तुम भी अब नौ *-सात सजो, वे आनेवाले अभी-अभी।"

(१८)

"नहीं सजूँगी हे सुकेशिनी! क्योंकि नहीं है कुछ बढ़कर—
इस मेरी आधी साड़ी से, है जो भूषण इस तन पर।
इसे, मुझे आधी की जिसने वह नर-वर जब आवेगा—
तब होगा श्रृंगार और फिर वही चित्त में भावेगा।"

---

* सोलह श्रृंगार।

(६६)

इतने में अति मुदित आ गई भैमी-माता—
जिसने नल का हाल कहा, सबको सुखदाता।
सखियाँ सुनकर जिसे सौख्य-सर में बहती थीं,
बार-बार शृंगार-हेतु उसको कहती थीं।

पंद्रहवाँ सर्ग

(१)

अंभ-अंबर - अचल - अचला - अनिल में—
स्वच्छता का स्वच्छ शासन देखकर—
थे मुदित मन में बहुत ही मनुज सब—
सौख्यदा शुचि - शरद - शोभा देखकर ।

(२)

पापरूपी पंक पृथ्वी पर न था,
किंतु रज-कण-पीतता थी कांतिदा ।
नील-नीरज, नवल - नीलम के सदृश—
नीलिमा नभ में निरी थी शांतिदा ।

(३)

देखकर के मालती * का फूलना—
और कुसुमित काँस-सितता-शीतता—
ज्ञात यह होता वहीं फिर देखकर—
वसुमती पर बालुका की पीतता—

(४)

मान, मानो मोह से जड़मति मही—
निज रजत-धन-कणक-कण को आर्द्रतर—

---

* मालती और काँस के फूल तो चाँदी के समान और पीली मिट्टी सोने के सदृश ।

धूप देना * छोड, है फैला रही,
धूप देने, † अब उन्हें निज देह पर।

(५)

हो गई या भूमि पर उपदेश-हित—
दो जनों की भाग्य की विपरीतता।
शरद्-यश की श्वेतता तो है इधर—
उधर पावस - मृत्यु - जाता पीतता।

(६)

स्वच्छता क्यों आ गई आकाश में?
मिट गई अब भूमि की मानो व्यथा।
आह के जलवाह ‡ इससे भेजती—
वह न दिव में ताप की कहने कथा।

(७)

या कि कर घनश्याम-मुख-स्पर्धा महा—
वृष्टि के है श्याम-घन की श्यामता—
विष्णुपद × पर पड़ गई पाने क्षमा -
सब चढ़ा अपनी वहाँ अभिरामता।

(८)

है सफ़ाई, है निकाई सब जगह—
और है सुख - शांति - शोभा - संपदा,
क्योंकि ऐसा ही रहा करता सदा—
श्रेष्ठ राजा - राज्य में है सर्वदा।

---

* उन्हें काम में न लाना, सदैव बंद रखना, बड़े कृपण के समान उनकी धूप, नैवेद्य से पूजा करना। † वर्षा से भीगे हुए मानकर सोने-चाँदी को भी धूप (आतप) देना। ‡ बादल। × वियद्विष्णुपदं, इत्यमरः। आकाश। दूसरे, वह क्षमा-याचनाऽर्थ श्रीकृष्ण के पद-पद्मों पर पड़ गई।

(९)

आपगा में, आपगा ❀ के नाथ में,
कूप - जल, जलजात, वापी-नीर में,
अग्नि में, कानन, महाधर-मार्ग में,
मेदिनी, आकाश, शुद्ध समीर में।

(१०)

काँस - कलिका में, कुमुद में, कुंद में,
मालती में, मधुप में, मधु † वित्त में,
शरद ही है शरद बस, सब ओर अब—
चंद्रमा में, चंद्रिका में, चित्त में।

(११)

क्यों बढ़ा यों तेज सूर्य - प्रकाश में ?
है जिसे लख कोक-लोक अशोक में।
क्षणविभा ‡ आत्मा चली मानो गई—
घन - मरण पीछे विभाकर - लोक में।

(१२)

सिंधु - सरिता - सर - सलिल को ले रहे—
घटज × बन, कुंभज उदर की शरण में;
सिद्ध है इससे, महज्जन में भरी—
शक्ति रहती है नहीं उपकरण में।

❀ सरित्पति, समुद्र। † शरद रूपी कमलों का धन। ‡ क्षण-प्रभा, बिजली ही मेघों की आत्मा थी। जब वह (उनकी देह) नष्ट हो गई, तब वह सूर्य-लोक में चली गई, अतः सूर्य मे अधिक प्रकाश प्रकट हो गया।
× घटोत्पन्न (कुंभज) अगस्त्य।

(१३)

नीर * का यों देख सारे सूखना—
पड़ गया है कष्ट में अब मीन-मन।
बिगड़ जाती शीघ्र यों उनकी दशा—
जी रहे हैं जो पराश्रय दीन जन।

(१४)

कर रही द्विजराज को, मृगराज को—
जो विलज्जित कामिनी - गजगामिनी।
देख वह भी मंद गति अब हंस की—
कोप में भरकर बनी है भामिनी।

(१५)

मत्त वे भी हो गए अब वृष-शिखी—
पुच्छ करते जो न थे ऊँची कभी।
मानिनी - मृगनयनियों का सर्व अब—
गर्व - गंजन कर रहे खंजन सभी।

(१६)

यह पपीहा † है न जो पापी बड़ा—
तो जगत में जल बिना क्यों जी रहा ?
'पी' रहा कर, यह न जल को पी रहा ;
बढ़ रही अब विरह-विधुरा पीर हा !

---

* शरद्-ऋतु में अगस्त्य आकाश में प्रकट होकर जल-शोषण करते हैं।

† पी-पी करके वियोगिनियों को दुःख देनेवाला पापी पपीहा। पापियों के प्राण बड़ी कठिनता से निकलते हैं। तभी तो यह पपीहा जल-पान बिना भी (स्वाति-सलिल के अतिरिक्त) जी रहा है।

(१७)

चंद्रमा को देख चारु चकोर - गण—
चित्त में है इस तरह अब * कह रहा—
"कौन - सी यह चंद्रवदनी का वदन—
व्योम में है चाँदनी छिटका रहा।"

(१८)

जिस तरह आए, गए उस ही तरह—
जंतु छोटे, जो जहाँ के थे वहाँ,
क्योंकि इस संसार सार - विहीन में—
बहुत दिवसों तक ठहरना है कहाँ!

(१९)

दिग्विजय को चल पड़े भूपाल अब—
खाक करने दीन - जनता - वित्त की।
ज्ञान के संतोष के आए विना—
है असंभव तृप्ति होना वित्त की।

(२०)

† ऐसे सुंदर - सुखद शरद् में भीम-कुमारी—
नाथ-विरह की व्याधि खो चुकी थी अब सारी,
किंतु नहीं शृंगार अभी तक वह करती थी;
केवल पहने हुए एक आधी साड़ी थी।

(२१)

सखियों की अति श्रेष्ठ नीति भी उसे न भाती;
नहीं समझ में बात एक भी उनकी आती।

---

* शरद्-ऋतु में..... । † रोला छंद ।

कहती थी वह उन्हें—"भला क्यों हठ करती हो—
मेरे मन में भाव हर्ष के क्यों भरती हो?

(२२)

"किसका कहना मान आज शृंगार करूँ मैं?
किस उपाय से दुःख-दाह को और हरूँ मैं?
जब स्त्री को शृंगार स्वयं ही छोड़ चल बसा—
तो कैसा शृंगार, क्योंकि वह बनी पर-वशा?

(२३)

"पति ही स्त्री-सौंदर्य और शृंगार अनूठा;
है सदैव शृंगार वस्त्र-भूषण का झूठा।
है सच्चा ही आज घृणा जब उससे करता—
तो झूठा किस तरह देह में छवि को भरता?

(२४)

"प्राणनाथ के विना देह का जो सजती है—
नारी-कुल की कान कामिनी वह तजती है।
भूषण सबसे श्रेष्ठ सर्वदा होता प्रियतम—
रहना उसके साथ वेष है स्त्री का अनुपम।

(२५)

"प्राणनाथ-आदेश विना मैं कुछ न करूँगी;
मुख-दर्शन के विना चित्त में सुख न भरूँगी।
जिसने यह शृंगार किया है मेरा उत्तम—
वही श्रेष्ठ है और वही है महा मनोरम।"

(२६)

—इसके पीछे, साथ इंद्रसेना को लेकर—
आया भूषित इंद्रसेन भी भला वहाँ पर।

थे दोनो के नए-नए उत्तम पट-भूषण ;
मुद के मारे कूद रहे थे वे अब क्षण-क्षण ।

(२७)

दमयंती के सदृश इंद्रसेना थी भोली ;
इससे उसने शीघ्र भरी माता की झोली ।
डाल दिए सब खेल मुदित अति मन में होकर—
गिरी अंक में स्वयं मलिन उस साड़ी ऊपर ।

(२८)

उसका भाई बड़ा खड़ा था किंतु वहाँ पर—
माता को वह देख दुखी था, मलिन वेष-धर ।
था उसको संकोच, अंक में कैसे जाऊँ ?
क्यों वस्त्रों को नए नयों को मलिन बनाऊँ ?

(२९)

इससे जाकर पास लगा वह कहने—"माता !
क्यों तुमको दिन-रात इस तरह रोना भाता ?
देखो, मैंने वस्त्र नए पहने मज्जन कर—
कैसे - कैसे और खेल लाया हूँ सुंदर ?

(३०)

"श्रेष्ठ किंकिणी एक पिताजी से जो ली है—
उसको मैंने अभी इंद्रसेना को दी है ।
जो चाहो, तो खेल तुम्हें भी मैं दे दूँगा—
और अंक में पड़ा हुआ हाथी ले लूँगा ।"

(३१)

"माता ! देना इसे न मेरा सुंदर कुंजर—
मत देना," यों कहा इंद्रसेना ने रोकर—

"इसने मेरा छीन लिया है काला वानर—
क्षुद्रघंटिका * एक फेंककर हठ से मुझ पर।

(३२)

"इसे पिताजी कई दे चुके खेल मनोहर;
आया है यह खेल खेलकर, उन्हें तोड़कर।
माता! मेरा खेल एक भी इसे न देना—
आना है बस इसे सदा लेना-ही-लेना।"

(३३)

"ले-ले अपने खेल, दौड़कर मैं जाता हूँ—
और दूसरे खेल पिताजी से लाता हूँ।
बैठाऊँगा नहीं तुझे, माता का उस पर—
लाता हूँ मैं अभी एक मतवाला कुंजर।"

(३४)

यों कहकर वह डाल सभी खेलों को भू पर—
दौड़ा बाहर, कमल, कमल-नयनों में भरकर।
सखियाँ बोलीं—"हमें न तू गज पर बैठाना,
किंतु पिता का इंद्रसेन तू लेकर आना।"

(३५)

फिर यों कहने लगी भीमजा विस्मित होकर—
"होता कैसा प्रेम पुत्र का अहो! पिता पर।
देखी उसकी बात, सभी को भूल गया है;
जाने कैसे पिता-प्रेम में फूल गया है?

---

* जिसको उसे नल राजा ने प्रथम भेंट होने पर दिया था। छोटी-सी घंटी जो रथ के या बैलों के बाँधी जाती है।

(३६)

"कन्या भी दो-चार वर्ष की ही यह जानो,
क्योंकि धरोहर सदा इसे तुम पर का मानो।
चलते, कर स्त्री-त्याग सभी हैं निज-निज मग में—
नारी - जीवन बहुत कठिन होता है जग में।

(३७)

"है स्त्री को परतंत्र इसलिये रहना पड़ता—
सभी तरह के कष्ट और है सहना पड़ता,
किंतु उसे स्वातंत्र्य पूर्णतम तब मिलता है—
जब उसका मन-पद्म प्रेम-रवि से खिलता है।

(३८)

"सुत का क्या विश्वास, हाथ * जो पकड़े आकर—
सतियों को भी प्रेम - जाल में जकड़े जाकर—
बन वह भी स्वच्छंद, गृहीता को तज देता—
है केवल भगवान नारि - नौका को खेता।"

(३९)

"माता ! नौका कहाँ, हमें उसमें बैठाओ ;"
इंद्रसेन ने कहा—"पिताजी, तुम भी आओ।"
नल को आते देख छिपीं फिर सखियाँ सारी ;
उठ न सकी, था सुता अंक में, भीम-कुमारी।

(४०)

पीछे से उस समय शीघ्र फिर नल ने आकर—
भैमी - लोचन मूँद कहा—"हे प्रिये ! सतोवर !
क्या मुँह लेकर आज तुम्हारे सम्मुख आऊँ—
कैसे कलुषित और कपटमय देह दिखाऊँ ?

---

* नल पर कटाक्ष।

(४१)

"पहले कर दो क्षमा, प्रिये ! खोलो मुख सुंदर—
मैं अपराधी खड़ा हुआ हूँ बड़ा यहाँ पर।"
माता को चुप देख पुत्र ने वचन यों कहे—
"क्या यह कोई खेल, क्षमा जो आप कह रहे।

(४२)

"माताजी ! जो पास तुम्हारे है, तो दे दो—
उसके बदले आप आज यह हाथी ले लो।
ठीक पिताजी ! किया, मूँद लीं आँखें आकर—
जिनसे ये दिन-रात बहाती थीं बस सागर।"

(४३)

मोद - सिंधु के मध्य डूबकर भीम-कुमारी—
उत्तर के ही लिये यत्न करती थी भारी।
सकती थी वह बोल किस तरह उसके अंदर ;
यों वह कहने लगी सिंधु से शीघ्र निकलकर—

(४४)

"देना चाहो आप नहीं अब भी निज दर्शन—
इससे आँखें मूँद रखीं तुमने जीवन-धन !
कैसे दूँ मैं क्षमा, क्षमा की मैं हो प्यासी ?
स्वामी को किस तरह क्षमा दे सकती दासी ?"

(४५)

माला वह खो गई जो कि थी अभी बनाई ;
भैमी को यह व्यथा हो रही थी दुखदाई।
नल को भी संदेह हुआ यह कैसे आई ?
मुझको माला अभी - अभी किसने पहनाई ?

(४६)

किंतु बात थी यही, गूँथकर माला सुंदर—
रख छोड़ी थी भीम-सुता ने वहाँ निकटतर—
नल-गल में वह गई उसी से थी पहनाई,
पर संभ्रम से याद नहीं वह उसको आई।

(४७)

इंद्रसेन ने कहा—"क्यों न दी मुझको माता!
इस माला को क्योंकि पिता को मैं पहनाता।
पहना दी जो स्वयं अभी तूने यह माला—
उससे इनका कंठ हो गया है छविवाला।"

(४८)

अब क्या था सब भेद खुल गया वहाँ परस्पर;
पिक-वचनी लग गईं गान करने मंगल-कर।
होती थी यों ज्ञात मही की शोभा सारी—
पति-वसंत से आज मिली है जो तनुधारी।

(४९)

मानो जो पहचान प्रिया को स्वयं खिल रहा—
शकुंतला से वही शपित दुष्यंत मिल रहा।
अथवा असली रूप किए धारण शिव-शंकर *—
मिलते तापसि-शैल-सुता से समुद परस्पर।

(५०)

कामवाम† की वाम दृष्टि से मानो बचकर—
काम मिल रहा काम-कामिनी से या तनु-धर।
अथवा मिलता भीम-सुता से नल ही नृप-वर—
कई वर्ष पश्चात श्वशुर-मंदिर के अंदर।

---

* कल्याण-कारी महादेव। † शिव।

(५१)

दोनो के प्रेमाश्रु इस तरह लगते सुंदर—
मानो गिरते सुधाधरों पर दो मुक्ता-वर ।
चार कमल था कमल डालते थे कमलों पर-
या नल - भैमी बहा रहे थे आँसू सुखकर ।

(५२)

दोनो मन में सोच रहे थे बात एक-सी ;
दोष किसी का नहीं मनुज तो सदा परवशी ।
मेरे कारण दुःख दूसरे ने भी पाया—
जीव एक है पति - पत्नी का, हैं दो काया ।

(५३)

नल बोले—"हे प्रिय ! आप मज्जन-गृह जाओ—
कर सोलह श्रृंगार शीघ्र ही पीछे आओ ।
शोक-दुःख को भूल, मनोहर वेष बनाकर—
विरह-व्यथा तुम हरो रूप-लावण्य दिखाकर ।

(५४)

"है न मनुज के हाथ दुःख या सुख का देना—
शोक - हर्ष के सिंधु - मध्य नौका को खेना ।
करता है जो दुखी, वही सुख भी देता है ;
करता है जो सुखी, वही दुख भी देता है ।

(५५)

"मैंने तुमको नहीं तजा था जान - बूझकर ;
इस कुकर्म में मुझे किया था कलि ने तत्पर ।
क्षमा माँगकर आज हो गया वह छू-मंतर *—
कल तक करता रहा देह में वास निरंतर ।

---

* काफूर हो जाना, भाग जाना ।

(५६)

"मति-हत का अपराध, नहीं अपराध कहाता ;
उन्मत्तों का दोष कभी भी गिना न जाता ।
चंद्रमुखी ! मैं सुखी नहीं था विना तुम्हारे ;
जीता था इस एक वस्त्र के सदा सहारे ।

(५७)

"अभिज्ञान* था अर्धभाग यह इस साड़ी का ;
था अवलंबन एक यही बस मेरे जी का ।
लगता था यह चित्र-सदृश मुझ महा विकल को—
खो अब इसको, पा न सकेगी नक़ल असल को ।"

(५८)

देव-समर्पित शुद्ध सुमन-सम उसको लेकर—
प्रेम-भक्ति के साथ लिया फिर चढ़ा शीश पर—
और कहा—"हे नाथ ! वही है स्त्री सुखदाता—
जिससे पति का चित्त हर्ष को संतत पाता ।

(५९)

"हीरे, मोती, लाल सभी से है यह बढ़कर,
क्योंकि आपका बना विरह में यही क्लेशहर ।
है यह साड़ी धन्य, भाग यह जिसका प्यारा—
रहकर दुख में साथ नाथ का बना सहारा ।

(६०)

"एक विनय अब यही आपसे मेरी प्रियतम—
मुझसे जो अपराध बन पड़ा है, पुरुषोत्तम !
इसके हित अब दंड, क्षमा या मुझे दीजिए ;
मन-चिंता को प्रभो ! शीघ्र ही नष्ट कीजिए ।

---

* निशानी, सहनानी ।

(६१)

"छल से मैंने बुला लिया है आज आपको ;
करनेवाले दूर आप ही छद्म - पाप को।
आगे आकर विरह-वह्नि की धूम-अँधेरी—
न्यून कर चुकी शुद्ध बुद्धि को थी तब मेरी।

(६२)

"जिससे हम तो आज प्रफुल्लित सुखी हुए हैं ;
एक अयोध्यानाथ व्यर्थ ही दुखी हुए हैं।
इन बातों का सभी कहेंगे मुझको कारण—
इससे देकर दंड कीजिए कष्ट-निवारण।"

(६३)

नल ने उत्तर दिया—"ठीक है कथन तुम्हारा,
पर मैं ही हूँ प्रिये ! कष्ट का कारण सारा।
कुछ भी होता नहीं साथ जो तुम हम रहते ;
मिल-जुल करके भला दुःख-सुख वन में सहते।

(६४)

"जन अपराधी मुझे न्याय से सभी कहेंगे ;
तुम्हें कभी भी दंड नहीं ईश्वर भी देंगे।
कैसे दोषी मनुज कहो, निर्दोषी होगा ?
मेरे कारण दुःख-दर्द को सबने भोगा।

(६५)

"जाने दो यह विषय, हो गया जो होना था ;
तुमने, मैंने सभी खो दिया जो खोना था।
याद करो अब समुद चारदश-भुवन-पाल को ;
क्या करना है हमें सोचकर भूत - काल को ?

(६६)

"बुद्धिमती हो स्वयं जानती बातें सारी ;
मेरा कहना व्यर्थ, व्यर्थ मैं कायाधारी।
सच कहता हूँ—मान रहा हूँ—भीम-कुमारी !
सदा पुरुष से अधिक बुद्धि रखती है नारी।

(६७)

"पर उसका उपयोग नहीं वह करने पाती ;
इसीलिये वह मंद और कुंठित हो जाती।
स्त्रियाँ तुम्हारी तरह काम लें जो निज मति से—
तो बाहर कुछ नहीं रहेगा उनकी गति से।

(६८)

"उदाहरण प्रतिकूल नहीं इसके पाता है ;
बुद्धिमती हैं स्त्रियाँ समझ में यह आता है।
स्त्री-मति से ही भाग्य पुरुष का देखा फिरता ;
करती है उद्धार मनुज का उसकी स्थिरता।

(६९)

"करते, किसके विष्णु स्वयं हैं गाए-गाए ?
सत्यवान के प्राण-पखेरू कैसे आए ?
दक्ष-यज्ञ को देख कीर्त्ति अति किसने ली है ?
उग्र-देह के बीच सदा स्थिति किसने की है ?

(७०)

"पूजा जाता ब्रह्म शक्ति के कारण केवल ;
प्राणी में प्राधान्य शक्ति का ही है निर्मल।
हो जातीं श्रीराम-युक्तियाँ निष्फल सारी—
आती भू पर जो न शक्ति-श्रीजनककुमारी।

(७१)

"जहाँ-जहाँ पर पुरुष अंध बन ठोकर खाता—
वहाँ-वहाँ मस्तिष्क काम में स्त्री का आता।
मानव का उद्धार किया करती है नारी;
मैं ही क्या, यह बात कथाएँ कहतीं सारी।"

(७२)

"धन्य-धन्य है प्राणनाथ की इस वाणी को;
शोभा देती यही आप-से अति ज्ञानी को।
शिक्षा देगा कौन बताओ उस रमेश को—
देगा कौन सुबुद्धि, कहो, उस गुरु-गणेश को?

(७३)

"प्रभो! आपका किया हुआ मन-मोहन भोजन—
नहीं कहीं भी मिला, फिरी मैं घर-घर, वन-वन।
क्या उसका कुछ स्वाद मिलेगा आज यहाँ पर?
क्या रसना रसवती बनेगी उसको पाकर?

(७४)

"इन चरणों के आज स्पर्श से होगी पावन—
भोजन-शाला क्या न यहाँ की कहो, प्राणधन!
पानी मुँह में खूब सभी के है भर आया;
पाने को वह सुधा खड़ी है मेरी काया।

(७५)

"है यह मेरी विनय आपसे हे वदतांवर!
भोजन-गृह को आप सुपावन करो कृपा कर।
प्रभु-कर-निर्मित भोज्य जभी जिह्वा खावेगी—
सुधासनी बन तभी रसज्ञा कहलावेगी।"

(७६)

नल ने उत्तर दिया—"प्रियतमे ! लो जाता हूँ—
नाना व्यंजन बना शीघ्र ही मैं आता हूँ।
स्नानालय तो आप, भोजनालय मैं जाता—
देखें पहले कौन काम करके है आता ?"

(७७)

नल पल में चल दिए बात यह अंतिम कहकर;
वह स्नानालय गई स्नेह-सागर से भरकर।
कनक-कलश थे वहाँ भुवन *-परिपूर्ण मनोहर—
जो मरकत-सम चमक रहे थे भूमि-भुवन पर।

(७८)

रंग-बिरंगे रत्न - जटित थे उनके ऊपर—
होते थे जो ज्ञात उस समय ऐसे सुंदर—
दमयंती के लिये समुत्सुक कलश हो रहे—
मानो आँखें फाड़-फाड़कर बाट जो रहे।

(७९)

गंगा-जल से भरे हुए होने के कारण—
करते थे वे ब्रह्म - कमंडलु - गर्व - निवारण।
बतलाते थे बात यही वे जलागार में—
दे सकते हैं स्वर्ण - मेरु को हम उधार में।

(८०)

सुरभित-सुमन-समूह श्रेष्ठ सौरभ से खिंचकर—
मधुकर-वर का निकर लोल था एक कलश पर।
कृष्ण-मेघ-प्रच्छन्न मेरु-सम जो लगता था;
दर्शक-मन को महा मुग्धकर जो ठगता था।

---

* जीवनं भुवनं वनम्, इत्यमरः। जल, लोक।

(८१)

शौच-कर्म * पश्चात सुगंधित-कोमल-चिक्कण—

ललित लगाया गया भीमजा के फिर उबटन।

जो अति निर्मल-कलित-कमल-सम-देह-स्पर्श कर—

स्वयं हो गया गौरवर्णधर † और स्वच्छतर ‡।

(८२)

छोटे-छोटे पात्र लगीं फिर सखियाँ भरने;

स्फटिक-शिला पर बैठ गई वह मज्जन करने।

होती थी यों ज्ञात, कलित-कैलास-शिखर पर—

मानो गंगा स्नान कर रही देह-दीप्ति-कर।

(८३)

सखियों ने फिर भीम-सुता के बाल बनाए—

उनमें ताज़े और सुगंधित सुमन लगाए।

कुंचित, कोमल, कृष्ण, चारु, चिकने, चमकीले,

लगते थे यों पुष्प कचों पर नीले-पीले—

(८४)

मानो सुंदर - श्रेष्ठ - रत्न - गण - कांति दिखाता—

अर्ध - कज्जलित - चंद्र - बिंब को छवि से छाता।

अथवा चंदन-बिंदु-पंक्तियाँ मन हरती थीं—

आधी शालग्राम-मूर्ति में द्युति भरती थीं।

(८५)

कांत - केश - विस्तार बहुत बढ़ता जाता था—

मानो वह पाताल देखने को जाता था।

---

* प्रथम शृंगार शौच कहलाता है, अतः यही शब्द लाया गया है।
† सफ़ेद-सा। ‡ उबटन का रंग और सत के चले जाने पर वह फीका पड़ जाता है।

सखियों को आश्चर्य यही था उन बालों पर—
बढ़ते ही ये भला जा रहे हैं पल - पल - भर।

(८६)

"इनका इतना भार कहोजी सखी ! सजीली !
सहती है किस तरह कमर पतली-लचकीली ?
हम तो सब थक गईं, बाँधना इनका दुस्तर—
आ सकते हैं कभी न कर में ऐसे कच-वर।

(८७)

"अंगराग से सखी ! बढ़ाओ अंग-रंग को—
जो पहले ही मुग्ध कर रहा नल-अनंग को।
अंजन तो बस तुम्हीं लगाओ आज कृपा कर—
दृश ही हैं ये क्योंकि हमारे कर - शाखा *- वर।

(८८)

"जिनको पल में काम-बाण-सम पैने, नीले—
डालेंगे बस काट तुम्हारे नेत्र कटीले।
बाण-कृपाण-समान तीक्ष्ण हैं ये कटाक्ष-वर—
फिर क्यों ललित लकीर लगाती विष की इन पर ?

(८९)

"नज़र लगाने नहीं आ सकें लज्जित खंजन—
फिर क्यों रक्षा करो लगाकर इन पर अंजन।
अभी न मेरी शक्ति, लगाऊँ कैसे कज्जल।
मीनों को भी मात कर रहे ये बन चंचल।

(९०)

"अंगुलियों को कौन चलाकर भला कटावे ?
ऐसा ही बस खेल तुम्हें तो मन में भावे।

* पतली उँगलियाँ।

अंजन मुझसे नहीं अँजेगा सुनो छबीली !
हो जाओ तुम आज भले ही काली - * पीली।"

(६१)

सुन करके भयभीत सखी की बातें सारी—
दमयंती से लगी केशिनी कहने—"प्यारी !
आओजी तुम इधर लाल, नीले, गौरों का—
काला मुँह मैं करूँ आज इन चितचौरों का।"

(६२)

पर उससे खिंच सकी नहीं अंजन की रेखा,
उँगली उसकी कटी लगाकर लोहित - लेखा।
"हाय ! हाय !" कर दूर हटी वह, बनी अधीरा,
बस फिर अंजन लगा शलाका के ही द्वारा।

(६३)

"जो पूछो हे सखी ! आज तुम मेरे जी से—
तो होना जाना न भला कुछ इस मेहँदी से।
पहले ही कर-कमल लाल हैं अधिक कमल से—
तो मेहँदी फिर स्वयं रँगेगी इनके बल से।

(६४)

"जो हठ करके इसे लगा ली कर-कमलों पर—
तो उठने के नहीं भार से ये कोमल - कर।
चतुरानन ने लाल रंग के हैं पानी को—
पोत करों पर प्रथम बनाया फिर मेहँदी को †।

---

* कुपित, नाराज़। † बचे-बचाए और फीके लाल पानी से, अतः मेहँदी हरी ही रही और लालपना उसे बहुत ही पीसने पर दिखाई देता है। तुम्हारे हाथ सदैव एक ही रंग के रहते हैं।

(९५)

"जो ऐसा होता न कहाँ से इतने शोणित—
होते तेरे हाथ न ये किसलय से शोभित।
विधि ने ऐसी बना करों में ललित ललाई—
क्यों मृदुतर की कमल-नाल-सम कलित कलाई?

(९६)

"फीकी मोती-लड़ी दशन तेरे दर्साते;
दाड़िम के भी बीज देख जिनको शर्माते।
है विडंबना-मात्र भीमजा! इनका रंजन—
करती जिनकी चमक-दमक चपला-मद-भंजन।

(९७)

"बिंबाधरि *! तांबूल व्यर्थ है तेरा लेना—
क्या है इसमें धरा और क्या लेना-देना?
मुख का भूषण सखी! भला मैं इसे मानती—
तो भी तेरे लिये निरर्थक इसे जानती।

(९८)

"गी †-सम विद्यावती, उमा-सम होकर सुंदर—
तेरे हित तांबूल किस तरह है भूषण-वर?
प्रकृति-दत्त सौंदर्य स्वयं ही है अति शोभन—
वह भूषण के विना अधिक होता मनमोहन।

(९९)

"जो दूषण से हीन पूर्णिमा-विधु पर ऐसे—
भूषण-वर शोभायमान हो सकते कैसे?
फुल्ल-पद्म पर और गंध है व्यर्थ बढ़ाना;
सहज-गंध पर सदा निरर्थक इत्र लगाना।

---

* संबोधन होने से ह्रस्व। † सरस्वती।

(१००)

"किंतु समझ सौभाग्य - चिह्न तुम इसको खा लो ;
सुंदरता - हित नहीं, रीति को केवल पालो ।
साड़ी पहनो यह विवाह की महा मनोहर ;
जिस पर मंजुल लगा हुई है मुक्ता - झालर ।

(१०१)

"लो, विधुवदनी ! सखी ! केशिनी गहने लाई ;
पहनो, हठ मत करो, इसी में भला भलाई ।"
उसने फिर सिरफूल, भाल का भूषण पहना—
बेसर, वर तांटक, कंठश्री, ग्रीवा - गहना ।

(१०२)

मणि - हीरों का हार किया फिर धारण उर पर,
कंकण, बाजूबंद, कर्धनी और मनोहर,
पल में पायल पहन, मुद्रिका, नूपुर पहने—
भैमी से यों हुए सुशोभित द्वादश गहने ।

(१०३)

सुखद - अमंद - सुगंध लगाई फिर वसनों पर ;
कांत - कंचुकी हुई सुगंधित, साड़ी सुंदर ।
पुष्पहार सुविहार लगा, फिर उर पर करने ;
कुंकुम तत्पर हुई सखीजन - मन को हरने ।

(१०४)

अति सुंदर सिंदूर - विंदु था उदित इंदु-सम,
या वह मंगलकार मंजु-मंगल था अनुपम ।
ललित विंदु यों भव्य भाल पर छवि देता था—
मानो मंगल, अर्ध-चंद्र से रस * लेता था ।

---

* सुधा ।

(१०५)

चम-चम करती हुई कनक * की पट्टी ऊपर—
पड़ी हुई थी एक रक्तमणि महा मनोहर।
या थी मन्मथ-युगल-धनुष-वर-मध्य-उपस्थित—
इंद्रवधूटी एक देह को रखने रचित।

(१०६)

था कस्तूरी-चिबुक-विंदु यों मन को हरता—
अलि गुलाब की कली केलि जैसे हो करता।
कर सोलह शृंगार, पहनकर द्वादश गहने—
लगी भीमजा हर्ष - सौख्य - सागर में बहने।

(१०७)

भैमि - दामिनी दमक रही थी गृह-घन अंदर,
हर्षजाश्रु ही नीर - विंदुएँ थे मानस - हर।
श्वेत रत्न के दीप्त दीप थे मानो बक-वर—
की वर्षाऋतु प्रकट इंद्र-नल ने यों आकर।

(१०८)

मुद - मंगल - उत्साह - त्रिवेणी चली क्लेश - हर,
भूप-भवन-हिम-शैल-शिखर से उमड़-घुमड़कर—
और विदर्भ-समुद्र-मध्य वह गिरी शीघ्रतर;
थलचर-दल † को किया रत्न जलचर भी सुंदर।

(१०९)

सितमणि-गण-पर्यंक श्वेत चँदवे से शोभित—
शेषनाग के सदृश कर रहा था मन मोहित।

---

* भाल, ललाट। † समूह। थलचर रत्नों के और जलचरों के समान थे।

भैमी - श्री के साथ सौख्य से नल-नारायण—
करते उस पर भूत-काल का थे पारायण।

(११०)

डुला रही थीं चँवर प्रेम से अष्ट सिद्धियाँ;
या स्वकर्म में लीन वहाँ थीं सारी सखियाँ।
था विलंब अब नहीं सृष्टि की नई सृष्टि में—
पर उनके थी नींद योग* की भरी दृष्टि में।

(१११)

नल - दमयंती - मिलन से मुदित हुआ सब देश;
क्या करते हैं देखिए अब साकेत - नरेश।

---

* दोनों का वैराग्य आगे वर्णन किया जायगा।

सोलहवाँ सर्ग

(१)

जिससे निशाकर - कांति की परिशांति होती है भला,
है जो निशा का नाश-कर, तिमिरारि को देता जला,
ऐसा दिवाकर - कर - निकर जब पूर्व से था आ रहा,
वह और जब सब ओर नभ में तेज था फैला रहा,

(२)

जब मुक्त होते थे भ्रमर - वर कमल - कारागार से,
आते निकल थे कोक भी निज - विरह - पारावार से,
जब गंधवाही पवन वन में सुखद - शीतल-मंद था,
वह और करता भूमि को जब स्वर्ग-सम सुख-कंद था,

(३)

तब शौच-स्नानादिक क्रिया से निबटकर अति हर्ष से—
थे टहलते नल बाग़ में होकर सुखी स्वोत्कर्ष से।
आराम था सारी तरह का उस हरे आराम में;
था घाम हो सकता नहीं अभिराम उस तरु-धाम में।

(४)

चारो तरफ़ जिसमें बिछी थी प्राकृतिक मखमल * हरी;
जिसको बहुत तर कर रही तब मोतियों † की थी तरी।
रविबिंब का प्रतिबिंब जिनमें पड़ रहा सुखकार था—
जिसमें अभी तक बन रहा नव-लालिमा-संचार था।

---

* दूब। † ओस-कण।

(५)

गाती कहीं थीं पुष्प - झूले झूलकर अलि - आवली ;
माती नहीं तन में कहीं थी फूलकर कलिकावली।
सब भाँति के छोटे-बड़े तरु थे खड़े उस बाग़ में—
जिनमें सुशोभित थे महा फल - फूल नाना राग में।

(६)

आराम वह धारण किए दिव के सदृश सुख-शांति को—
अति तुच्छ ही बतला रहा था श्रेष्ठ-नंदन-कांति को।
था स्रोत वह वर गंध का, लघु-पक्षियों का केंद्र था ;
उसकी * निहार अपार शोभा मुग्ध-मन देवेंद्र था।

(७)

ऐसे रुचिर उद्यान में मुद - मोद भर अपने हिए—
आए महीपति भीम फिर ऋतुपर्ण को आगे किए।
मिलकर परस्पर प्रेम से जिसने यही नल से कहा—
"मेरे यहाँ रहकर सखे! यों कष्ट क्यों तुमने सहा ?

(८)

"जो ज्ञात हो जाती मुझे यह क्लेश-कर सारी कथा—
तो प्रेम से करता तुम्हारी मैं सुसेवा सर्वथा।
पर उस समय हतभाग्य का फूटा हुआ था यह हिया ;
जिसने बनाकर सूत तुमको जन्म का फल खो दिया।

(९)

"ऐसे अतिथि का कौन जन सत्कार करता है नहीं ?
ऐसे नृपति का कष्ट हरने कौन मरता है नहीं ?
हा ! बन गया होता कभी का भाग्यवान महीप मैं—
जो चरण छूता आपके, सच कह रहा, कुलदीप ! मैं।

---

* राजा भीम के बाग की।

(१०)

"है जानकर, अनजान कर, जो हो गई यह धृष्टता—
    अब भूल जावेगी उसे प्रभु-चित्त की उत्कृष्टता।
देकर मुझे हय-तत्त्व * तुमने हित किया मेरा महा;
    तुमसे उऋण हूँगा न मैं, यह हृदय मेरा कह रहा।"

(११)

नल ने कहा—"हैं आप मुझसे वृद्ध वय में, ज्ञान में,
    बल में, विभव में, बुद्धि में, हैं शौर्य में, सम्मान में।
निज सेवकों की पालना में आप-सा ज्ञानी नहीं;
    जो अक्ष-विद्या-दान दे ऐसा कहीं दानी नहीं।

(१२)

"मैंने न भोगा आपके सुतत्व में कुछ कष्ट है;
    उसमें रहा हूँ मैं सुखी यह बात बिलकुल स्पष्ट है।
भगवान से कर जोड़कर मैं प्रार्थना करता अभी—
    दें आप-सा स्वामी मुझे, जो मैं बनूँ सेवक कभी।

(१३)

"है छद्म से आकर यहाँ पर कष्ट भोगा आपने;
    क्या-क्या दिखाए खेल हैं मेरे पुराने पाप ने।
जो कुछ हुआ, सो हो गया, चिंता न इसकी कीजिए;
    सब दोष मेरा ही समझ मुझको क्षमा कर दीजिए।"

(१४)

"सुनिए विनय मेरी," कहा फिर भीम ने अति हर्ष से,
    "मुझको हुए हैं ज्ञात अब तक ये दिवस सौ वर्ष-से।
पर आज मेरे कष्ट को है नष्ट तुमने कर दिया—
    संतुष्ट कर इस शोक-रूपी दुष्ट को भी हर लिया।

---

* अश्व-विद्या।

(१५)

"देखो निषध-राजेंद्र ! अब फिर दुःख-घन छाए यहाँ ;
तुमसे विदा लेने अयोध्या-नाथ हैं आए यहाँ ।
अब एक पल भी ठहरने मन माँगता इनका नहीं—
क्या श्रेष्ठ-नृप सहसा प्रजा का छोड़ सकता है कहीं ?

(१६)

"है भूप का आनंद केवल नित्य जनताराधना ;
है कीर्ति कहलाती महा उसकी महा हित-साधना ।
है देश में सुख-शांति का ही वास नृप की धीरता ;
है विघ्न-गण की हीनता ही श्रेष्ठ उसकी वीरता ।

(१७)

"जो भूप सुख पाने स्वयं अपनी प्रजा को छोड़ता,
परदेशियों से प्रेमकर संबंध उससे तोड़ता,
जो आप होने भाग्यशाली भाग्य उसका फोड़ता,
रह साथ उसके सौख्य में, जो दुख पड़े मन मोड़ता ।

(१८)

"बसता कहीं वह और पर धन तो प्रजा से लूटता,
निज देश को कहता बुरा, परदेश पर जो टूटता,
अति दुःख दे करके उसे निज सौख्य पर जो मर रहा—
है वह नहीं राजा प्रजा का जो न रंजन कर रहा ।

(१९)

"अपनी प्रजा की पालना नृप-त्राण-कारक वर्म है ;
उसकी सदा हित-साधना ही श्रेष्ठ-राजा-धर्म है ।
छल-पक्ष तजकर न्याय करना उत्तमोत्तम कर्म है ;
वैरी-जनों का मारना नृप-नीति का यह मर्म है ।

(२०)

"चाहे हज़ारों दुःख हों, अपने नगर में छा रहे,
चाहे डराने, युद्ध करने शत्रु भी हों आ रहे,
पर छोड़ना अपनी प्रजा को भूप का दुष्कर्म है;
रहना परस्पर - प्रेम से राजा - प्रजा का धर्म है।"

(२१)

अपनी दशा को देखकर निज चित्त में चिंतित हुए—
"कैसा रुचिर उपदेश है" नल ने कहा पीड़ित हुए।
"यों किंतु मैं कैसे कहूँ मेरे लिये यह काम का—
हूँ क्योंकि मैं इस काल में नर-नाथ केवल नाम का।"

(२२)

"है पूर्वजों का राज्य मैंने निज करों से खो दिया;
फल विषम पाने के लिये विष-वृक्ष को है बो दिया।
सुध आज आई है मुझे उपदेश सुनकर आपका;
भगवान जाने दंड मुझको मिल रहा किस पाप का!

(२३)

"राजन्! अतः सबसे प्रथम मुझको बिदा अब दीजिए;
जिससे सभी का लाभ हो, अब काम ऐसा कीजिए।
देंगे मुझे रण में विजय, यह ईश का विश्वास है;
चाहे न कुछ भी पास हो, पर श्वास जब तक आस है।

(२४)

"साकेतनायक! आपको मैं किस तरह दूँगा बिदा;
मैं प्रार्थना कर आपके पहले प्रभो! लूँगा बिदा।
दो कुछ कृपा कर और मेरे भाग्य को पूरा जगा;
मझधार में छोड़ो न मुझको, पार दो पूरा लगा।

(२५)

"प्यारी प्रजा के रक्त को है दुष्ट पुष्कर पी रहा ;
उद्योग करता मैं नहीं, धिक् है मुझे मैं जी रहा।
क्या हो गए मेरे सभी अघ साथ ही एकत्र हैं ;
जिनके निराशा-शैल मुझको दीखते सर्वत्र हैं।"

(२६)

नल-शत्रु जीवित जान दोनो भूप अति व्रीड़ित हुए ;
करुणामयी उसकी गिरा से और भी पीड़ित हुए।
कहने लगे—"राजेंद्र ! यों मत आप चिंता कीजिए ;
लेकर हमारी वाहिनी अरि को पराजय दीजिए।

(२७)

"जो कुछ हमारे पास है, वह आपका ही मानिए ;
हे वीर ! प्राणों को हमारे आप अपने जानिए।
यश-धाम बन बस जायगा वह मुक्ति-धाम ललाम में—
है आ गया जो काम * मानव आपके शुभ काम में।"

(२८)

कहने लगे अब भीम—"मेरी प्रार्थना सुन लीजिए—
पहले इसे स्वीकार कर, फिर और बातें कीजिए।
रहिए भला दो-चार दिन तो आप दोनो ही यहाँ—
फिर जाइए सुख-शांति से दोनो वहाँ, इच्छा जहाँ।

(२९)

"है कौन जन आता किसी के और है जाता भला—
है अन्न-जल ही घेर करके बस उसे लाता भला।
सुख दीजिए रहकर यहाँ, क्या आपका यह घर नहीं ?
आए, न ठहरे, चल दिए, यह बात क्या होती कहीं ?"

---

* जिसका देहावसान आपके काम में ही हो जावे।

(३०)

यह * मानकर दो-चार दिन वे हर्ष से ठहरे वहीं ;
खेलीं शिकारें, दृश्य भी देखे उन्होंने सब कहीं।
फिर एक दिन शुभ काल में नृप ने बिदा उनको किया ;
नल और भैमी साथ, सेना-धान्य-धन अतुलित दिया।

(३१)

†भरते हुए प्रमोद परस्पर अपने मन में,
करते हुए विनोद, मार्ग के गिरि में, वन में,
पहुँचे वे सब साथ एक दिन सरयू - तट पर—
जहाँ सदन था एक मदन - मन - मोहन, सुंदर।

(३२)

कहते थे ऋतुपर्ण इसे निज मृगया - शाला—
जिसका लख प्रतिबिंब नीर में निपट-निराला—
होता था यह ज्ञात वरुण का शंभु - अचल - सम—
है यह चल-प्रासाद स्वच्छ शुचि-जल में अनुपम।

(३३)

पड़ने लगे पड़ाव चाव से सबके इसमें—
स्थान, प्रकाश, समीर बहुत सौख्यद थे जिसमें।
दमयंती का चित्त देखकर स्थान मनोहर—
हुआ महान प्रसन्न, मिली ज्यों उसे धरोहर।

(३४)

वसुधा पर जो शुद्ध सुधा - सम कहलाता है ;
मंजु मुक्ति का दान मनुज जिससे पाता है।
यज्ञ - याग - होमादि - कर्म में जो आता है ;
देवों को भी पान और जिसका भाता है।

---

* इस कथन या प्रार्थना को। † रोला छंद।

(३५)

ऐसे जल की नदी क्यों न हो भला अनुत्तम * ?
क्यों न चित्त का क्लेश हरेगी वह गंगा-सम ?
हैं जिसमें कल्लोल - लोल - मालाएँ सुंदर—
जिनसे शुचि - मकरंद टपकता है जल बनकर।

(३६)

अज, दशरथ, अभिराम - राम-से, अति पावनतम—
इंद्रोपम राजर्षि स्नान कर जिसमें अनुपम—
कहते थे शिर चढ़ा, भक्ति से, जिसका शीकर—
"बड़े हुए हैं जननि ! आपका पय हम पीकर।"

(३७)

जीवन - दाता †, नित्य पानकर जीवन निर्मल—
योगी करते विचल चित्त को थे अविचंचल।
करके जिसमें स्नान, स्वमन को सुखी बनाकर—
रोगी जाते गेह देह का रोग मिटाकर।

(३८)

करती है जो जीव - तृषा का कष्ट - निवारण,
हरी - भरी हो रही मही है जिसके कारण,
जिससे पाकर नित्य धान्य - धन - वृद्धि महत्तर—
वसुंधरा हो गई धरा साधारण बनकर।

(३९)

ऐसी सरयू-सरित जहाँ बहती है निर्मल ;
उस धरणी का भाग्य कहो कितना है उज्ज्वल।
करके उसका स्पर्श नष्ट हों सब पातक - गण—
शुभ - फल - दाता सदा एक भी उसका रज - कण।

---

* सर्वश्रेष्ठ। † जीवन देनेवाला सरयू-जल।

(४०)

तटिनी-तट पर दूर-दूर अति गहन गहन थे ;
जिनमें करते भीम-जंतु भी रहन-सहन थे ।
देते थे सुख जिन्हें पीन-पृथु कायावाले—
पीपल-वट के वृक्ष सघन-घन-छायावाले ।

(४१)

पीवर * पादप-पंक्ति नदी के युगल-तटों पर—
छिटकाती थी छटा छबीली यों अति सुंदर—
मानो सरयू-सलिल-सुरक्षा करने आकर—
सज-धज करके खड़े हुए हैं सैनिक बलधर ।

(४२)

रजनीमुख † में वहाँ बहुत शोभा छाती थी,
नदी वनों के मध्य इस तरह छवि पाती थी—
मानो दोनो ओर गगन-गंगा के सुंदर—
गगन-नीलिमा छिटक रही उडु-श्वेत-कुसुम-धर ।

(४३)

इस सरयू के पास एक था वनमय गिरिवर—
जिसमें करते वास बहुत थे भीषण वनचर ।
सिंह-कोल-शार्दूल-पूर्ण था यह सब कानन ;
होते सबसे यहाँ किंतु, थे भीम-मृगादन ।

(४४)

श्रम हरने को रहे वहाँ कुछ काल सदन में—
दोनो राजा गए शीघ्र फिर मृगया-वन में ।
हृष्ट-पुष्ट-संतुष्ट साथ थे जिनके हय-वर—
बना रहे थे बात बात से जो बढ़-बढ़कर ।

---

* पुष्ट, बड़े । † सायंकाल में ।

(४५)

था लोहे का कवच मंदद्युति होकर सुंदर—
पीले-पीले चिह्न हो रहे थे कुछ उस पर ।
रहती है जो दुःख पड़े पर आगे आकर—
थी ऐसी ही ढाल पीठ पर उनके दृढ़तर ।

(४६)

वाम-स्कंध पर धनुष, और था पीछे तर्कश—
करता था जो शब्द ढाल से मिलकर कर्कश ।
थी उनके कटि - बद्ध कठिन करवाल व्याल-सी ;
छिटक रही थी कुंत-कांति भी महाकाल - सी ।

(४७)

मानो अश्वारूढ़ वीररस युगल देह - धर—
स्थित हैं, यों वे ज्ञात हो रहे थे वन अंदर ।
अथवा थे वे दुष्ट जंतुगण-काल भयंकर ;
या थे नल-ऋतुपर्ण, साथ ले अस्त्र-शस्त्र-वर ।

(४८)

दौड़ रहे थे इधर-उधर व्याधे बलधारी ;
लाते थे जो घेर शिकारें सम्मुख सारी ।
हा - हा होती कहीं, कहीं हो - हो होता था—
सिंहों का भी धैर्य चित्त से जो खोता था ।

(४९)

घूम रहे थे कहीं मत्त होकर दंती-वर—
कई युवा मृगराज आक्रमण कर - कर जिन पर—
बारंबार अपार रक्त लोहित को पीकर—
होते थे अति मुदित उदर को अपने भर-भर ।

(५०)

कहीं - कहीं पर युद्ध परस्पर हरि करते थे—
कर - कर गर्जन घोर शत्रु - असु को लेते थे ।
कूद रहे थे, फाँद रहे थे रक्त - वदन - धर—
बड़े - बड़े हरि, कहीं - कहीं शाखा - मृग होकर ।

(५१)

बाण - प्रहार अपार सहन कर कहीं - कहीं पर—
गरज - गरज गिर रहे सिंह थे कहीं - कहीं पर ।
कहीं - कहीं पर कुंत, कोल की कटि के अंदर—
जाकर बनता काल उसी का महा भयंकर ।

(५२)

वन - महिषों के कहीं - कहीं पर सिर कटते थे ;
कहीं मृगादन - उदर बाण - गण से फटते थे ।
हरिण - विडाल - शृगाल भीति से पुच्छ दबाकर—
दौड़ रहे थे भीम - शब्द कर वन से बाहर ।

(५३)

प्रलय - काल उत्पन्न हो गया वन के अंदर—
जिसमें स्वाहा शीघ्र हो गए अगणित वनचर ।
गृध्र और आतापि * श्येन से द्वेष छोड़कर—
श्वा - शृगाल - वृक - सहित हो गए भक्षण - तत्पर ।

(५४)

दुष्ट जंतु - गण - हीन हुआ जब भीषण कानन—
वह नितांत तब शांत हो गया आनन - फानन ।
नीरवता में डूब, किंतु वह गहन गहनतर—
लगता था उस काल तपोवन - सदृश सौख्य - कर ।

---

* आतापि चिल्लौ, इत्यमरः ।

(२५)

ऐसी सुंदर शांति वनों में बढ़ा - बढ़ाकर—
पहले के नृप बाण धनुष पर चढ़ा - चढ़ाकर—
बल से, छल से नहीं, शिकारें खेला करते—
निज जनता के कष्ट वीरता से थे हरते ।

(२६)

रण, मृगया में तनिक दिखाई देता अंतर ;
इनमें तो समभाव भरा है क्योंकि परस्पर ।
निज वैरी के साथ युद्ध होता है रण में ;
मृगया में मनुजारि - जीव हत होते वन में ।

(२७)

जानी जाती प्रकृति नरों की रण में जैसे—
होता है पशु - वृत्ति - ज्ञान मृगया में वैसे ।
रण में तो हैं अस्त्र - शस्त्र - धर अरि असुहारी ;
हैं मृगया में शत्रु रदन - नख - आयुध - धारी ।

(२८)

एक ओर है भयद मानवी रचना सुंदर—
और दूसरी ओर प्राकृतिक दृश्य मनोहर ।
एक ओर तो कठिन व्यूह का भेदन होता—
और दूसरी ओर लता - तरु छेदन होता ।

(२९)

है पर दोनो ओर काम आता बल केवल—
बुद्धि, शौर्य, चातुर्य दिखाना पड़ता पल-पल ।
करने से अभ्यास बड़ी लाघवता आती ;
बढ़ता है उत्साह, चली कायरता जाती ।

(६०)

बच्चों का-सा खेल शिकारें हुईं आजकल ;
आता जिनमें काम नहीं कुछ शारीरिक बल।
महा भीरुता - सदृश हो गई भूप - वीरता ;
काँप * रही है देह, कहाँ फिर चित्त-धीरता।

(६१)

दीनजनों का कष्ट काटना, स्वबल बढ़ाना,
अनुचर-गण को सदा अहिंसा-पाठ पढ़ाना,
जहाँ मनुज हैं, वहाँ विघ्नता वन की हरना,
है राजा का धर्म इस तरह मृगया करना।

(६२)

राज-काज को छोड़ तमाशे करते रहना,
तीतर, चिड़िया मार शिकारी निज को कहना।
देना पर का कष्ट उड़ाने केवल जलचर—
घर में छिपकर और मारना छोटे थलचर।

(६३)

है यह मृगया नहीं, किंतु है हत्या करना—
निज नौका को और महा पापों से भरना।
प्रतिदिन ऐसा खेल खेलना क्या विनोद है ?
क्या निर्धन जन-दुःख-दान ही भूप-मोद है ?

(६४)

कभी सिंह के नहीं सामने ये † आते हैं—
कहलाते हैं सिंह और फिर छिप जाते हैं।
हैं जो सच्चे वीर और जो बड़े शिकारी—
उनको अपनी देह नहीं होती है प्यारी।

---

* अत्यधिक मद्य और व्यभिचार से। † राजा लोग।

(६५)

निज रक्षा के लिये गेह ✽ भी पास खड़े हैं;
हाथी, घोड़े और शस्त्र-धर दास खड़े हैं।
फिर भी ऊँचे बैठ दूर से गोली देना—
कभी चूकना और कभी पशु के असु लेना।

(६६)

क्या है यही। शिकार वीरता-स्मारक सुंदर—
जिसको भी तैयार दिनों में करते पुर-नर † ।
हरि-गर्जन से जहाँ पसीने हैं सीने पर—
वीरों के धिक्कार सदा ऐसे जीने पर ।

(६७)

जो कहलाते सिंह, वे न दुम कभी दबाते ;
वैरी की क्या कहें, काल के सम्मुख जाते ।
वीर न होता पुरुष देह पर शस्त्र सजाए—
और शिकारी नहीं, शिकारी - स्वाँग बनाए ।

(६८)

नहीं वीरता-रंग चढ़ा है जब तक मन पर—
धीर-वीर-वर-वेष व्यर्थ है तब तक तन पर ।
कीर्तनीय है कहाँ पूर्वकालिक मृगया वह ;
चिड़ीमारपन कहाँ आज का शोचनीय यह !

(६९)

देख सुखद सूर्यास्त सभी गिरि नीचे आए—
और शौच - पश्चात् सरोवर-बीच नहाए ।

✽ ओदियाँ, मृगयालय । † बहुत दिनों पहले ही से शहर के लोग ओदियों पर जाकर शिकार का इंतज़ाम किया करते हैं ।

स्फटिक-शिला पर बैठ गए फिर युगल - भूप - वर—
हरी दरी * पर और जम गए सारे अनुचर।

(७०)

शरद्-काल का मध्य इस समय था अति सुंदर;
थे गिरि पर से शब्द कर रहे झरने झर-झर।
हरियाली ही, सभी जगह पर हरियाली थी;
कहीं - कहीं पर पुष्प - राशि भी खिली हुई थी।

(७१)

आता था वर - वायु सरोवर के ऊपर से—
और भूमि की गंध, सुमन - सौरभ गिरि - वर से।
था वसुधा पर सुधा छिड़कने लगा सुधाधर—
सकल कला - परिपूर्ण क्योंकि था कलित - कलाधर।

(७२)

चारु चाँदनी और रात आपस में मिलकर—
अपने पति की बात लगी करने खिल - खिलकर।
इसी समय ऋतुपर्ण - गुणी - गायक - गण आया—
जिसने फिर संगीत मधुर छेड़ा मनभाया।

(७३)

आए फिर धीमान, मानवाले कुछ अनुचर—
सुरापात्र थे कई हाथ में जिनके सुंदर।
थे सुवर्ण के और रजत के भी लघु भाजन—
जिनका देख सुवर्ण मुदित होता था जन-मन।

(७४)

स्वर्ण - रंग की, महा सुगंधित थी जो रुचि-कर—
थे जिसके आधार अभी तक ताम्र - पात्र - वर।

* दूब।

जो अतीव गंभीर गर्त में गड़ी हुई थी,
सब ऋतुओं में इसी तरह जो पड़ी हुई थी—

(७५)

और निखरकर बहुत हो गई थी जो निर्मल,
मंद - मंद, मद - भरी, पुष्टि - कर, गुणकर, शीतल,
ऐसी पीने लगे वारुणी भूप पुरानी—
मोद - दायिनी, जो न बुद्धि को करे दिवानी।

(७६)

पयनिधि - जाता सुरा व्यर्थ थी जिसके सम्मुख—
सुर-सुख जिससे घटा, बढ़ाकर क्योंकि असुर-सुख,
किंतु मद्य यह हर्ष - वृद्धि उनकी करती थी—
जिनकी बलधर बाहु व्याधि सबको हरती थी।

(७७)

कांत - कनक के पात्र - मध्य में मदिरा उत्तम—
छिटकाती थी छटा छबीली यों अति अनुपम—
मानो कनक - गिरीश - मध्य था सुधा - सरोवर,
अथवा था मधु - भरा मंजु नीरज के अंदर।

(७८)

थीं मणियाँ भी देख कांति जिनको अति व्याकुल—
थीं ऐसी द्युतिमान, मद्य की मणियाँ ❀ मंजुल।
चामीकर † के चारु-चमक में चम - चम, चम - चम—
उनका करना ज्ञात इस तरह हुआ मनोरम—

(७९)

मानो वरुणात्मजा ‡ प्रकटकर अपने मोती—
स्मित - वदना बन, मधुप - चित्त - चिंता थी खोती।

❀ बिंदुएँ जो उसके चारों ओर पात्र में आ जाती हैं। † स्वर्ण। ‡ मादिरा।

था मादकता और पुरातनता दिखलाने—
थे वे सभी प्रमाण सुरा को श्रेष्ठ बताने।

(८०)

मिष अपने प्रतिबिंब-मात्र का लेकर हिमकर—
महामोद से पान - पात्र के आकर अंदर—
सहोदरा से खूब बाँह भर-भर मिलता था—
चिर - वियोग का अंत देख मन में खिलता था।

(८१)

अथवा आज विलोक हुआ फिर से सुंदर - तर—
और अतीव प्रसन्न, कमल से भी कोमल - तर—
वदन महा द्युतिमान, मदन - मद - हारी नल का—
था आश्रय ले रहा चंद्र चुल्लू - भर जल का।

(८२)

अथवा कादंबरी * बहन यह मेरी उत्तम—
हो जावेगी और बहुत ही रुचिकर - अनुपम—
ऐसा मन में मान, पात्र में डूब सुधाकर—
देता था अमृतत्व, मधुरता उसको आकर।

(८३)

ऐसी मधु को सभी लगे पीने बढ़ - बढ़कर—
सिर चढ़ती थी जो न कभी भी सिर में चढ़कर।
जिसके मद से वीर भीरु भी हो जाता था;
महा कृपण भी दान - शीलता को पाता था।

(८४)

ऐसा मद भी बुरा अंत में क्यों कहलाता?
क्यों अपयश का तिलक शीश पर है यह पाता?

---

* मदिरा, अच्छी शराब।

इसका उत्तर यही मधुप - गण दे सकता है—
"नादानों * से कौन बड़ाई ले सकता है ?"

(८५)

फिर भी कहना यही ठीक दिखलाई देता—
है, मद से ही मनुज सदा नादानी लेता।
लोभ - मोह से अधिक बुरा मद ही होता है—
चारो † आँखें क्योंकि पुरुष की यह खोता है।

(८६)

चाहे जैसा क्यों न नशा हो, वह करता है—
नर को अंधा और बुद्धि को भी हरता है,
किंतु क्यों न उद्धार करेगा यह उस जन का—
जिसके सिर यह चढ़े नशा बन ईश - स्मरण का।

(८७)

सभी तरह से बुरी वस्तु ऐसी न कहीं पर—
इससे मद भी नहीं सर्वथा है कुकीर्ति - कर।
है जो सबसे बुरा, प्राणहर - हीन हलाहल—
हो जाता है किंतु कभी वह भी गंगाजल।

(८८)

होता है मद बुरा, जभी वह मद हो जाता;
मद-हित मद जो करें, उन्हीं को मद है आता।
ऐसा कोई नहीं, तर्क जो हर सकता है—
अपने मत को सर्वमान्य जो कर सकता है।

(८९)

सुरा - पान पश्चात् लगे फिर आने व्यंजन—
जिनसे करने लगे सभी निज मन का रंजन।

---

* यदि इसके सेवन करनेवाले नादान (अज्ञानी) हों, तो...। † ज्ञान-कर्म-चक्षु।

भोजन पीछे हुआ वदन - कर - पद - प्रक्षालन ;
फिर सारे चल दिए 'सदन' को सहित मुदित-मन ।

(१०)

सबने देखा दृश्य और ही पहुँच वहाँ पर—
थी भैमी ऋतुपर्ण - प्रिया के साथ जहाँ पर ।
करती थीं वे बड़े प्रेम से मिलकर भोजन ;
करके रुचि - अनुसार परस्पर उसका वर्णन ।

(११)

रजनी में विश्राम लिया फिर सबने सुखकर ;
उठ फिर प्रातःकाल हुए नियमों में तत्पर ।
नल ने फिर ऋतुपर्ण - दूत - वर को बुलवाया ;
नम्र भाव से, जो कि वहाँ अति सत्वर आया ।

(१२)

"आप निषध में अभी जाइए चतुर दूत-वर !
जहाँ कर रहा राज आज है राजा पुष्कर ।
उसको सबसे प्रथम हमारी आशिष कहना ;
दे करके यह पत्र आप फिर मौनी रहना ।

(१३)

"जो उत्तर दे तुम्हें पत्र को पढ़कर पुष्कर—
उसको आकर मुझे विदित तुम करना सत्वर ।
मेरा जो परिपूर्ण मनोरथ हो जावेगा—
तो तुम-सा फिर वित्तवान विरला पावेगा ।"

(१४)

सुनकर यह आदेश दूत वह शीश नवाकर—
लेकर सब सामान अश्व-वर पर फिर चढ़कर—

चला निषध की ओर शीघ्रता करके ऐसी—
तेज़ हवा में करे वृक्ष का पत्ता जैसी।

(६५)

कई दिनों तक सुखद वासकर नल सरयू पर—
बाहर के सब दृश्य देखकर महा मनोहर—
गए पुरी में साथ भूप के सहित मुदित-मन—
थे जिसमें आराम - सदन सुखदायक, शोभन।

(६६)

हेमंत-ऋतु में, मार्ग में उस दूत ने क्या-क्या किया?
सुन सिंधु-वर्णन वणिक को निज भेद क्यों उसने दिया?
इसकी कथा का विपुल वर्णन है किया आगे गया—
पढ़िए उसे भी आप इस अल्पज्ञ पर करके दया।

सत्रहवाँ सर्ग

(१)

शीतलतम - हेमंत, सौख्य - कर - शरद अंतकर—
टूट पड़ा मैनाक-महीधर-सदृश मही पर ।
चित्त हुआ भयभीत देखकर इसकी माया ;
लगे काँपने कमल और कोमल नर-काया ।

(२)

कोक-लोक का शोक शीत ने बढ़ा दिया था ;
सब मार्तंड-घमंड इसी ने खंड किया था ।
भय से घटने लगा अग्नि का तेज भयंकर ;
लगी सूखने देह दिनों की भी दिन-दिन-भर ।

(३)

इसने रवि को चंद्र, चंद्र को किया कालयम—
और अनल को किया तेज-हत, जल को हिम-सम ।
किरण-जाल का तेज इसी ने घटा दिया था—
अग्नि-कोण की ओर सूर्य को हटा दिया था ।

(४)

हिम-समान अति शीत वायु होकर बहता था—
देने को उपदेश सभी से यह कहता था—
"करता है जो गर्व, निकलकर उसकी गरमी—
भर देती है उच्च शीश में उसके नरमी ।"

(५)

भानु-विभानु-कृशानु दीन-रक्षा करते थे—
ये तीनो ही महा दुःख उनका हरते थे।
तैल - तूल - तांबूल - वारुणी - तरुणी थे सब—
मिटा रहे थे शीत-कष्ट धनियों का भी तब।

(६)

पड़ता था क्या पद्म, पादपों पर यह पाला—
या नल - यश ने इन्हें श्वेत ऐसा कर डाला।
या कृशानु का तेज, भानु का ओज उष्णतर—
शीतल होकर इस प्रकार फैला था भू पर।

(७)

करते थे व्यायाम चतुर नर शक्ति बढ़ाने;
मानो वे बलवान बन रहे इसे हराने।
करते कुछ उद्योग नहीं जय पाने निर्बल;
पीस रहे थे दाँत कुपित होकर वे केवल।

(८)

खेल रहे थे वृद्ध अग्नि का बना खिलौना;
मानो उनको पड़ा शीत में बालक होना।
मोटे, काले वस्त्र युवक करते थे धारण—
सजते थे वे पहन कवच, मानो रण-कारण।

(९)

तड़फ - तड़फकर कोक - सदृश विरही नर - नारी—
कहते थे—"हा! मृत्यु नहीं आती हत्यारी।"
मानो उनका शोक बढ़ाने चंद्र - कामिनी—
चंद्र-कार्य थी बटा रही, तन बढ़ा यामिनी।

(१०)

जिसका वदन, सरोज देखकर डूबे जल में—
और विलोक उरोज घटी शोभा श्रीफल * में—
हृदय-हारिणी साथ सुंदरी जिनके ऐसी—
दीन-दुखद हेमंत-व्यथा फिर उनको कैसी ?

(११)

मृगमद, गुण - कर मद्य, मांस, मनमोहिनि-नारी,
ऊनी पट पय उष्ण, विभव - सामग्री सारी,
आतप, अग्नि प्रचंड और हो तन में अति बल—
दश पदार्थ ये शीत-कष्ट को हरते पल-पल।

(१२)

†इस परिश्रमशील जन - सुख - शक्तिदा—
श्रेष्ठ ऋतु में हर्ष से वह दूत - वर—
यात्रियों के साथ में था जा रहा—
बहुत - से वृत्तांत सुनता सौख्यकर।

(१३)

एक नर से पूछने वह यों लगा—
जानकर भी बात सब, अनजान बन—
"आप आए हैं कहाँ से और अब—
जा रहे हैं किधर को हे श्रेष्ठ जन ?"

(१४)

प्रश्न सुन, उत्तर दिया उसने यही—
"मैं बहुत ही दूर से हूँ आ रहा।
सिंधु - यात्रा से अभी-अब लौटकर—
शीघ्रता से निषध में हूँ जा रहा।

* नारियल। † छंद चौपदा।

(१५)

"मैं बहुत घूमा - फिरा संसार में—
देखने देशांतर की संपदा,
किंतु होती ज्ञात वह फीकी मुझे—
सिंधु - महिमा - कीर्ति - छवि - सम्मुख सदा।

(१६)

"क्या करूँ उसकी प्रशंसा मैं भला—
है अनोखा हाल पारावार का।
पूछिए मत आप उसकी बात कुछ—
जो जनक * कहला रहा संसार का।

(१७)

"विष्णु का जो स्वच्छ शयनागार है,
आदि है आधार जो जल-तत्त्व का।
पार पाकर पुरुष वारंवार भी—
पार पाता है न जिसके सत्त्व का।

(१८)

"जो महा गंभीरता का गेह है,
जो मनोहर मोतियों की खान है,
रत्न † जो उत्पन्न करता रत्न है—
नीर - निधि कहना उसे अपमान है।

(१९)

"रम्य ‡ रत्नाकर न जो होता यहीं—
श्री कभी आती नहीं संसार में।

---

* समुद्र से पृथ्वी निकली है। † चौदह (१४) संख्यावाची।
‡ यहाँ से समुद्र मंथनोत्पन्न चतुर्दश रत्न-वर्णन है।

विष्णु को भी श्री-वधू मिलती नहीं—
धूलि उड़ती और धनदागार में ।

(२०)

"अमरता आती न देवों में कभी ।
कौन हरता रोगियों * के रोग को ?
दिव्य गो के दुग्ध के सेवन बिना—
कौन करता योगियों के योग को ?

(२१)

"इंद्र † की रहती सदा सूनी सभा,
दिव्य हस्ती, हय उसे मिलते नहीं ।
बैठ तरु नीचे असुर, सुर और नर—
सिद्ध कर लेते मनोरथ क्या कहीं ?

(२२)

"मंजु मणि मिलती न माधव को कभी—
और धनु मिलता न ऐसा श्रेष्ठतर ।
फूँकते क्या ‡ कौरवों के सामने—
कृष्ण सुख से बैठ अर्जुन-यान पर ?

(२३)

"चंद्र भी होता, न होती चंद्रिका ;
कुमुद भी सर में कभी खिलते नहीं ।
औषधें पीतीं कहाँ पीयूष को ?
तम न होता दूर रजनी में कहीं ।

---

* धन्वंतरि भगवान् । † रंभाऽप्सरा के बिना । ‡ पांचजन्य शंख ।

(२४)

"ईश * को मिलती न ऐसी ईशता—
जो न करता प्रकट यह ऐसा गरल ।
नीलगल † को दुःख देता नाग - विष—
जो न होता नीलगल ‡ -सम नील-गल ।

(२५)

"वारुणी मिलती न असुरों को कभी—
मत्त बन वे नष्ट होते क्या कहीं ?
और ही कुछ दृष्टि में आता भला—
सिंधु जो इस सृष्टि में होता नहीं ।

(२६)

"× अमर-गण का भी मरण जब हो भला—
श्रीरमण लेते इसी की तब शरण ।
विष्णु तारण-तरण को भी तार यह—
है जगत - कारण - करण - तारण - तरण ।

(२७)

"लवण का होकर अनश्वर गेह भी—
वृष्टि - हित रखता यही है मधुर जल ।
शीतता का सद्म फिर भी हो रहा—
देह में रख यह महा वाडव - अनल ।

(२८)

"स्नान करके शैल इसके सलिल से—
सींचते हैं सस्य को सरिता बहा ।

---

* हलाहल-पान से ही इतनी सुकीर्ति मिली है । † महादेव । ‡ मोर के समान नीला कंठ । × कल्पांत में—महाप्रलय में ।

प्राणियों की वृद्धि करने के लिये—
द्वीप-गण भी वास इस पर कर रहा ।

(२९)

"शैल हैं मैनाक - से इसमें छिपे—
और शैलाकार, भीषण जीव भी ।
सिंधु की गंभीरता का देव भी—
पा नहीं सकते पते को हैं कभी ।

(३०)

"कोटिशः ब्रह्मांड हैं जो श्रम विना—
भृकुटि - चालन - मात्र से देते बना—
वीर ऐसे राम ने की मान - हित—
सेतु - बंधन - हेतु इसकी प्रार्थना* ।

(३१)

"देश - देशांतर - मिलन करता यही—
सृष्टि के व्यापार का आधार बन ।
सिंधु यह मानो सरित्पति - रूप में—
जीव - जन - उपकार है साकार बन ।

(३२)

"आपगाओं का, सरों का और फिर,
पान करके यह सभी जल - भार को—
एक पल के भी लिये, तिल - मात्र भी—
छोड़ता है यह न अपनी कार को ।

---

* इसको सम्मान देने के लिये श्रीराम ने भी सेतु-बंधन-हेतु इसकी विनय की थी ।

(३३)

"चपल होकर भी सदा यह सुदृढ़ है—
श्रेष्ठ मर्यादा - पुरुष - सम धर्म में ।
तुंगतम - कल्लोल* - माला - गेह बन—
यह कभी थकता नहीं निज कर्म में ।

(३४)

"प्राणियों से और सब सामान से—
पूर्ण चलते पोत † हैं इस सिंधु पर ।
और यह निस्स्वार्थ ही रहता बना—
नीर - मज्जित मानवों को मुक्त कर ।

(३५)

"क्यों यहाँ आया, कहाँ यह जा रहा—
भेद इसका जानता कोई नहीं ।
लोक में गंभीर - सिंधु - अनंतता—
जीव से जानी गई है क्या कहीं ?

(३६)

"सिंधु की अति शांति जो होती न तो—
रच न सकते थे विधाता सृष्टि को ।
कौन उससे बढ़ सके, जो कर रहा—
नित्य मंजुल मोतियों की वृष्टि को ।

(३७)

"क्या कहूँ इससे अधिक हे मित्रवर !
आप बातें जानते हैं स्वयं सब ।"
सिंधु - वर्णन सुन, उसे चुप देखकर—
इस तरह कहने लगा वह दूत अब—

---

* तरंग । † नौका, जहाज़ ।

(३८)

"हे सखे ! अति अनुभवी - विद्वान - सम—
सिंधु का है आपने वर्णन किया—
सुन जिसे, है शांत, शीतल, तृप्त अति—
और हर्षित हो गया मेरा हिया ।

(३९)

"आप - जैसे सज्जनों के साथ में—
कौन जन उन्नत महा होगा नहीं ?
स्पर्श करके शुद्ध - पारस को भला—
लोह क्या फिर लोह रहता है कहीं ?

(४०)

"है महा महिमा सदा सत्संग की—
जो सुमति दे जीव को, जंजाल हर ।
दोष-निधि भी चंद्र खोता दोष को—
बैठ करके चंद्रशेखर - भाल पर ।

(४१)

"कांत - कमलानाथ के संसर्ग से—
जन्म देता कमल - जन्मा को कमल ।
है दिवाकर - कर - निकर को स्पर्शकर—
गगन-गामी बन गया यह समल * जल ।

(४२)

"प्राप्तकर बल-शक्ति को निज देह में—
देहधारी है न डरता वाम से ।
व्याध होकर बन गए वाल्मीकि ऋषि—
राम के सुख - धाम - नाम कलाम से ।

* मल-युक्त जल भी वाष्प होकर मीठा और साफ़ हो जाता है ।

(४३)

"दुष्ट के संसर्ग से इस ही तरह—
नीच हो जाता जगत में मनुज-वर ।
मंजुतम मणि भी भुजंगम - संग से—
भव्य होकर हो गई है भीति - कर ।

(४४)

"जाह्नवी - जल भी बनेगा वारुणी—
वारुणीजीवी * मनुज के हाथ में ।
मद्य भी हो जायगा गंगा - सलिल—
वेदपाठी विप्र - वर के साथ में ।

(४५)

"इसलिये मतिमान को है सर्वदा—
सज्जनों के साथ रहना चाहिए ।
और सीधे - साफ़ - सुथरे मार्ग की—
आपगा † के बीच बहना चाहिए ।

(४६)

"जान करके अनुभवी मैं आपको—
चाहता इस बात को हूँ पूछना ।
निषध के राजा प्रजा की किस तरह—
कर रहे हैं मित्रवर ! अब पालना ।

(४७)

"क्या जलाते हृदय उसका वे बहुत—
दंड-रूपी दाव की अति दाह से ?
मिल सके जिससे वहाँ पर घर भला—
एक भी ख़ाली न कोई आह से ।

---

* कलाल । मद्य-निर्माता । † नदी ; समय की बाढ ।

(४८)

"मानवों का क्षेम करने के लिये—
क्या प्रजा को पालते हैं वे सदा ?
या कि घी के नित्य वे दीए जला—
लूटते हैं निर्बलों की संपदा।

(४९)

"या किसी दुर्व्यसन में पड़कर कहो—
कर रहे हैं कार्य की अवहेलना—
मग्न वे आनंद में रहते स्वयं—
पर प्रजा को दुःख पड़ता झेलना।

(५०)

"कौन-सी है बात ऐसी जिस तरफ़—
वे लगाए नित्य रहते स्नेह को।
आप अब प्रारंभ कहना कीजिए—
दीजिए सब मेट इस संदेह को।"

(५१)

दूत की प्रश्नावली को ख़ूब सुन—
शोक-सर में वह वणिक बहने लगा।
था निषध का ही निवासी इसलिये—
वह पते की बात यों कहने लगा—

(५२)

"हे सखे ! है निषध की अद्भुत दशा—
क्यों खुलाते आप उसके भेद को ?
जो बना देगी अभी चिंतित तुम्हें—
चित्त में उत्पन्न करके खेद को।

(५३)

"क्योंकि सज्जन-सु-मन* - रूपी सुमन है—
सर्वदा नवनीत से भी मृदुल - तर—
कष्ट का अनुभव करेगा शीघ्र ही—
दूसरों के दुःख को वह जानकर।

(५४)

"आजकल 'पुष्कर' निषध का भूप है—
रूप है उसका भयानक हो रहा—
खो रहा है जो प्रजा-अनुराग को—
आग को है शोक की जो जो रहा।

(५५)

आप भी विश्वासघाती हैं स्वयं—
मानता वह और मानव - मात्र को।
काम करता है नहीं वह देखकर—
देश को, या काल को, या पात्र को।

(५६)

"कीरता † उसके दृगों में है भरी—
और वचनों में भयंकर तीरता,
किंतु उसमें नाम को भी है नहीं—
धीरता - वर - वीरता - गंभीरता।

(५७)

"शील का तो नाम भी उसमें नहीं,
किंतु भय है शत्रुओं का चित्त में।

---

* उत्तम मन और पुष्प। † तोताचश्म होना बुरा माना गया है। सुग्गे (सुआ) के-से नेत्रवाले को महा दुष्ट, विश्वासघाती माना जाता है।

कर * लगाकर, लूटकर कर - युग्म से—
तृप्ति उसके है न फिर भी वित्त में ।

(५८)

"दुःख देता है प्रजा को व्यर्थ वह—
दंड - हित बन नित्य मिथ्या दंडधर † ।
चंड उसके हो रहे भुज - दंड हैं—
दंडियों के दंड को भी खंडकर !

(५९)

"ध्यान से सुनता नहीं है वह कभी—
वेदपाठी विप्र के भी वचन - वर ।
मानता है वह स्वमत को श्रेष्ठतम—
और निज को जानता सर्वज्ञ नर ।

(६०)

"मित्र उसके हो रहे हैं दुर्व्यसन ;
बन गया वह अवगुणों का गेह है ।
पाप - रूपी पंक के अति पुंज से—
पुष्ट बन, अपवित्र उसकी देह है ।

(६१)

"नष्ट करता जो सभी तत्काल ही—
देह की, मस्तिष्क की है शक्ति को,
लोक या परलोक के क्षय - हेतु जो—
मेटता है ज्ञान को, हरि - भक्ति को ।

---

* प्रजा पर टैक्स लगाकर दोनों हाथों से लूटना । † झूठा यमराज (सच्चा न्याय करनेवाला) ।

(६२)

"बुद्धि के दृढ़ मूल को उन्मूल कर—
कुमति का है पाठ जो देता पढ़ा—
दुष्ट, ऐसे मनुज - वैरी मद्य को—
वह निजोदर - दुर्ग में रखता चढ़ा ।

(६३)

"हो रहा इसका यही परिणाम है—
संतजन उससे नहीं संतुष्ट हैं ।
बन रहे उसके कृपा के पात्र अब—
चाटुवादी - चौर - दुर्मुख - दुष्ट हैं ।

(६४)

"निर्बलों को अन्न खाने को नहीं—
हैं सताते सब उन्हें बलवान नर ।
शांति का, व्यापार का तो नाम भी—
निषध में मिलता नहीं अब मित्रवर !

(६५)

"फैल सारे है अराजकता गई ;
भाग्य पलटा है जनों का खा गया ।
पड़ गया है निषध दुर्दिन फेर में—
क्योंकि उसके काल सिर पर छा गया ।

(६६)

"भूप तो नल हो गए जिनका पता—
ढूँढ़ने पर भी न मुझको मिल सका ।
उस बड़े राजर्षि के दर्शन विना—
मन-सुमन मेरा न अब तक खिल सका ।"

(६७)

दूत फिर कहने लगा—"हे मित्र-वर !
कुछ दिनों में मैं निषध में पहुँचकर—
बात सारी विदित कर दूँगा तुम्हें—
जो बनेगी निषध की आपत्ति-हर।"

(६८)

इस तरह बातें परस्पर नित्य कर—
हो गए सच्चे सखा वे प्रेम से—
और फिर हेमंत के वे अंत में—
निषध में पहुँचे समुद अति क्षेम से।

(६९)

पुष्कर से मिल, दूत किस तरह वापस आया ;
सुन जिसका संदेश हुई हर्षित नल-जाया।
नैषध को फिर मिली राज्य-लक्ष्मी थी वैसे—
पयनिधि से श्री प्राप्त हुई थी हरि को जैसे।
इत्यादिक वर्णन कई गए भला आगे किए ;
एक बार नल-विभव को पाठक ! फिर से देखिए।

अठारहवाँ सर्ग

(१)

शीत-प्रभंजन के बाणों से जन-मद का कर-कर भंजन—
शीतल शिशिर डालकर पाला करता था निज मन-रंजन।
हूँ मैं ही हेमंत-पुत्र वह यही बात दर्साता था;
भू पर राज्य जमाने ओले गोले-से वर्षाता था।

(२)

काँप रही थी थर-थर, थर-थर दीन जनों की दुःखित देह;
हँसती थीं हसंतियाँ उन पर, धनी जनों का पाकर स्नेह।
दक्षिण छोड़ सूर्य उत्तर को धीरे-धीरे आता था;
सूर्य-तेज के बढ़ जाने से दिन भी बढ़ता जाता था।

(३)

ऐसी ऋतु में दूत नगर की देख दुर्दशा हुआ दुखी;
क्योंकि कलह के कारण पुर में पुरुष एक भी था न सुखी।
कहीं सुनी जाती थी दुख से दीन जनों की दीन पुकार;
कहीं शांति के लिये खड़े थे सैनिक भी लेकर हथियार।

(४)

वहाँ हो रहे थे बलधारी सब बातों के अधिकारी*;
था अधिकार अशक्त, नहीं थे अधिकारी कुछ बलधारी।
थी पुर में सब जगह हो रही लाठी जिसकी भैंस वहाँ;
मनमानी घरजानी रहती रानी होकर जहाँ-तहाँ।

---

* Might was right but not right was might.

(५)

राम-रामकर किसी तरह वे पहुँचे नृप-मंदिर के पास—
जिसमें अति सुख से करते थे, नल-दमयंती कभी निवास।
लगी बहुत ही भली दूत को उसकी अद्भुत सुंदरता—
जिसे देख वह विकृत-रूप में था मन में चिंता करता।

(६)

होता था यह ज्ञात उसे अब कहता है यों राजागार—
"करता हूँ हे दूत! आपका मैं अभिनंदन वारंवार,
क्योंकि आप लेकर आए हैं मेरे उन स्वामी का पत्र—
जिनके कारण से रहते थे मुझमें सारे सुख एकत्र।

(७)

"सता रहा है मुझे इस समय उनका महा असह्य वियोग;
भोग रहे हैं शोक-रोग को जिनके विना निषध के लोग।
धन्यवाद के साथ आपका करता हूँ स्वागत मैं मित्र!
लाकर उनको कष्ट मिटाओ, और बनाओ मुझे पवित्र।"

(८)

तूर्य*-शब्द यों लगता उसमें मधुर-मधुर, सुखकार अपार—
मानो वह प्रासाद दूत को बार-बार था रहा पुकार।
देख पताका-कंपन उस पर यही समझ में आता था—
ध्वजा हिलाने के मिष से वह मानो उसे बुलाता था।

(९)

होता था प्रतीत यह, उसका देख बड़ी छाया भू पर—
मानो मिलना चाह रहा था उससे वह आगे बढ़कर।
कभी-कभी ऐसी चेतनता जड़ में भी आ जाती है;
जड़ से अधिक, कभी चेतन में जड़ता भी छा जाती है।

---

* बाजा।

(१०)

उसके सम्मुख महा मनोरम और सुगंधित था आराम—
तरु-दल-शाखा-चालन-मिष से करता था जो उसे प्रणाम—
और किया जाता था उससे नल-शरीर का स्पर्श ललाम—
क्योंकि पास में था धावन के नल-कर-लिखित-पत्र सुखधाम।

(११)

भू-जल-तेज-वायु-नभ में भी कुछ-कुछ होने लगा विकार,
क्योंकि पड़ चुका था अब उन पर नल-कर-कमल-गंध का भार*।
वर्षा पीछे जैसे सबमें आ जाता है मुद्-उत्साह—
उसी तरह से जड़-चेतन में हुआ दृष्टि-गत वहाँ उछाह।

(१२)

राजकीय वर-वेष देखकर, उसको मन में धावन जान—
लगे पूछने उससे ऐसे द्वारपाल आकर धीमान—
"कहो महाशय! आज आपका आना कैसे हुआ यहाँ?
किससे काम आपको है, अब और जा रहे आप कहाँ?

(१३)

"बाँध दीजिए वहाँ अश्व को, यहाँ बैठिए सुख से आप;
भोजन या जल-पान कीजिए करने दूर परिश्रम-ताप।
जो नरेंद्र-दर्शन की मन में रखते हो तुम अभिलाषा—
होगी पूर्ण तुम्हारी इच्छा, है हमको ऐसी आशा।"

(१४)

इतने मधुर वचन सुनने से पड़ा दूत को ऐसा जान—
बची-खुची नल-शिक्षा ने यह मानो उससे किया बखान,

---

* स्वयं नल ने ही उस पत्र को लिखा था। नल के कर-कमलों की सुगंध प्रथम तो लेखनी में फिर स्याही में फिर पत्राक्षरों में फैलकर सर्वत्र व्याप्त हो गई थी।

क्योंकि द्वारपालों में पटुता और नम्रता का आभास—
हो सकता था कभी न इतना विना रहे नैषध के पास।

(१५)

कहा दूत ने—"महोदयो! मैं बहुत दूर से आया हूँ;
राजा को अर्पण करने को एक पत्र मैं लाया हूँ—
जिसके लिखनेवाले हैं वे, थे जो निषध-नृपाल कभी—
करते हैं ऋतुपर्ण-संग जो पुरी अयोध्या-वास अभी।

(१६)

"महासती दमयंती भी है सुत-कन्या के साथ वहाँ—
पुरी*-महारानी करती है सुखद सद्म में वास जहाँ।
श्रीनल ने भेजा है मुझको कहने को अपना संदेश—
इससे अब तुम जाकर कर दो विदित भूप को कथा अशेष।"

(१७)

सुनकर मीठी वाणी उसकी लगे मुदित बन वे ऐसे—
प्राणों के फिर से आने पर मृत शरीर होता जैसे।
सूखे हुए मंजु मानस में जैसे हुआ सलिल-संचार—
वैसे ही वे समाचार सुन सभी हो गए मोदाधार।

(१८)

जैसे दुःख-निशा में छाई निशानाथ की कांति अपार;
दशा-बीच वैसे ही उनके फैल गई थी शांति अपार।
उनकी गद्गद गिरा हो गई, पुलकित सारा हुआ शरीर;
मन अधीर, बेपीर हो गया नयनों में भर आया नीर।

(१९)

सुध-बुध सारी भूल उन्होंने किया दूत से आलिंगन;
उसके स्कंध-युग्म को सींचा डाल लोचनों से जल-कण।

---

* अयोध्या।

और कहा—"हे भाई ! तुमने हमें बहुत ही सुखी किया ;
धन्यवाद दे रहा हमारा तुम्हें हिया का आज हियाॐ।"

(२०)

ऐसा कहकर एक पुरुष फिर गया भूप के शीघ्र समीप—
और नम्रता से कर जोड़े, कहने लगा उसे—"कुल-दीप !
दूत अयोध्या से आया है पहने हुए राजसी वेष—
है प्रभु-दर्शन का वह इच्छुक, है उसके हित क्या आदेश ?"

(२१)

"अच्छा, उसको आने दो" यह उत्तर सुनकर मन भाया—
द्वारपाल वह बाहर आकर उसे भवन में ले आया।
देख दूत ने सम्मुख नृप को शीश नवाकर किया प्रणाम—
और दे दिया नम्र भाव से फिर उसको वह पत्र ललाम।

(२२)

कई बार पढ़ करके उसको दिया यही उसने आदेश—
"अश्वारोही पुरुषों द्वारा मंत्री आवें अभी अशेष।"
राज-कुटुंबी, मंत्रीजन सब, वहाँ हो गए जब एकत्र—
भरी सभा में इस प्रकार तब पढ़ा गया उससे वह पत्र—

(२३)

"प्रियवर पुष्कर ! तुझे हमारा यथायोग्य है वारंवार ;
यहाँ कुशल-मंगल है, होवे वहाँ मंजु मंगल-विस्तार।
विना बाहु-बल, छल से जो नृप हर लेता है पर का राज—
उसकी अति निंदा करता है सदा-सर्वदा मनुज-समाज।

ॐ खड़ी बोली में इसका प्रयोग देखा गया है।

(२४)

"इसी तरह तूने भी पुष्कर ! करके छल से राज्य*-विहीन—

मुझे दिया है देश-निकाला और किया है मुझको दीन।

देख दिनों का फेर, भला मैं नहीं कर सका था कुछ बात—

पर अब क्योंकर बनी रहेगी सदा-सर्वदा आधी रात।

(२५)

"जिस दिनकर का उदय हुआ है, होता उसका अस्त अवश्य—

महा प्रतापी भी बन होगा वह कबंध † से ग्रस्त अवश्य।

भाग्य-प्रभात कभी होता है, और कभी है सायंकाल ;

वही सुखी कल हो जावेगा, आज हो रहा जो बेहाल।

(२६)

"इन बातों को सोच-समझकर, छोड़-छाड़ तू सुख का साज—

राज़ी से या नाराज़ी से दे-दे मुझको मेरा राज।

जिस पर कभी न हो सकता है न्याय-बद्ध तेरा अधिकार ;

धर्म-शास्त्र-आदेश ठीक यह‡ बीसो बिसवा सत्याधार।

(२७)

"दीन-वचन मत इन्हें मानना और न याचक की-सी बात ;

वीरोचित यह कार्य समझकर दूत भेजता हूँ मैं तात !

बातों से वह नहीं मानता, जो होता लातों का भूत ;

कभी नहीं तू ऐसा होगा उसी पिता का होकर पूत ?

(२८)

"सदा किसी की बनी न रहती, इसको भी तू रखना याद ;

राजों का पथिकालय है यह कहते जिसे राज्य-प्रासाद।

---

* हिंदी मे राज्य और राज दोनो ही प्रयुक्त होते हैं। † राहु। ‡ सबसे बड़ा पुत्र ही राज्याधिकारी है।

हे भाई! कब तक तैरेगी सागर में काग़ज़ की नाव?
है संसार-विपणि* में रहता सदा एक-सा किसका भाव?

(२९)

"सोच-विचार काम कर तू अब, विना विचारे जो करता—
उसकी हँसी जगत में उड़ती, निंदित होकर वह मरता।
जो राज़ी से राज न देगा, तो तुझको होगा अति कष्ट;
बलकर उसे क्योंकि मैं लूँगा करके तुझको पल में नष्ट।

(३०)

"तूने तो लूटा है मुझको सजा-सजाकर छल के साज;
धर्म-युद्ध से पर आवेगा मेरे कर में मेरा राज।
द्यूत खेलना जो तू चाहे, तो उसका भी है आह्वान;
बाण जचा या प्राण बचा तू हँसी-खेल मत इसको मान।

(३१)

"मेरा छोटा भाई होकर निंदनीय तू करता कार्य—
हा! जिससे वचनीय हो गया ऐसा उत्तम कुल भी आर्य!
इससे मेरा राज्य मुझे तू विना लड़े ही दे-दे आज—
और छोड़ मिथ्या मद, तुझको भला कहेगा मनुज-समाज।

(३२)

"गर्व किसी का रहा न रहता, उसे नहीं सहते भगवान;
कहना अधिक व्यर्थ है, तू भी नहीं सर्वथा है अनजान।
है इतना ही ठीक, मुझे अब लेख बढ़ाना इष्ट नहीं।
थोड़ा ही मीठा है, होती नहीं अधिकता मिष्ट कहीं।

(३३)

"देता है जो तुझे दिखाई, वह न चलेगा तेरे साथ—
पाप-पुण्य की पूँजी लेकर जाते हैं सब ख़ाली हाथ।

---

* बाज़ार, मार्केट।

अपनी करणी पार उतरणी, किसका धन, किसकी दारा ?
ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बनजारा ।

(३४)

"छोड़ूँगा मैं नहीं राज्य को किसी तरह से भी हे तात !
उत्तर दे तू सोच-समझकर ऊँची-नीची सारी बात ।
यहीं समाप्त इसे करता हूँ, ठीक नहीं है अधिक बखान* ;
तुझे सुयश दें, बड़ी आयु दें और सुमति दें श्रीभगवान ।"

(३५)

पढ़कर ऐसे श्रेष्ठ पत्र को लगा दूत से कहने वह—
"हे मतिमान ! हाल तू नल का पूरा-पूरा मुझसे कह ।
कहाँ रहे वे इतने दिन तक, भोगे उनने क्या-क्या कष्ट ;
है दमयंती कहाँ, दूत ! तू समाचार कह सारे स्पष्ट ?"

(३६)

हाथ जोड़कर नम्र भाव से उसने वर्णन किए अनेक ;
नल पर जो-जो बीती थीं वे बातें कहीं एक-की-एक ।
सुनी आदि से और अंत तक बड़े प्रेम से देकर ध्यान—
जिन-जिन मनुजों ने वह पावन नल-दमयंती-कथा महान—

(३७)

उनका मन मल-हीन हो गया और हाल सब पलट गया ;
ज्ञात हुआ यों उनको मानो हमें मिला है जन्म नया ।
निषधराज पुष्कर पर से भी द्वापर-कलि का हटा प्रभाव ;
सबका बेड़ा पार हो गया, लगी किनारे टूटी नाव ।

(३८)

अपने आपे में आने से पलट गया पुष्कर का ध्यान ;
पूरी तरह हो गया उसको अपने नीच कर्म का ज्ञान ।

---

* वर्णन ।

उसने किया विलाप और फिर फूट-फूटकर रुदन किया ;
दिया भाग्य को दोष, कहा यों करने को निज शांत हिया।

(३९)

"गंगा में मज्जन करने से मिट जाते हैं जैसे पाप,
सुधापान से होता जैसे मृत्यु-मरण है अपने आप,
उठ जाता है दिव्य ज्ञान से जैसे जगत-वासना-वास,
हो जाता है हरि-दर्शन से जैसे आवागमन-विनाश—

(४०)

"वैसे ही नल-दमयंती की सुनकर महा पुनीत कथा—
है मेरी मिट गई दूत-वर ! मन की मन में मनोव्यथा।
पलट गई है दशा सर्वथा, ठीक हो गया मेरा ज्ञान ;
मन-कलिका खिल उठी, मिट गया कलि का क्योंकि प्रभाव महान।

(४१)

"प्राण-त्राणकारी से भी है बड़ा ज्ञान देनेवाला ;
है मा-बापों से भी बढ़कर नौका को खेनेवाला ।
मुझ डूबे का, गिरे हुए का तू ही हुआ एक आधार ;
धन्य-धन्य है तुझे मित्र-वर ! तूने मुझको लिया उबार ।

(४२)

"तुझ-जैसा हे दूत ! नहीं जो होता मेरा हितकारी—
करता कौन कथा कह करके लाभ भला मेरा भारी।
तूने पावन वर्णन करके जीवन मेरा किया पवित्र ;
इसके लिये बता तू मुझको, क्या उपहार तुझे दूँ मित्र ?

(४३)

"मेरे पास नहीं कुछ भी अब, बची एक यह मेरी देह ;
नल का ही बस मानो सब कुछ राजपाट-धन-वैभव-गेह ।

जब तक आकर वे न करेंगे फिर से श्रेष्ठ निषध का राज—
तब तक मेरे साथ सभा यह बनी रहेगी शोक-समाज।

(४४)

"नहीं ग्रहण मैं अन्न करूँगा, किंतु तपस्या करके तात!
प्रायश्चित्त करूँगा अपने नीच कर्म का मैं दिन-रात।
तुम सारी सेना को लेकर पुरी अयोध्या को जाओ—
महाराज नल को लाकर यह राज उन्हें अब सँभलाओ।

(४५)

"उनकी श्रेष्ठ लेखनी को मैं आज्ञा विना न ले सकता—
इस कारण से नहीं, दूत-वर! पत्रोत्तर मैं दे सकता।
जो कुछ है, उनका ही है सब, मैं तो निर्धन हूँ इस काल;
उनकी श्रेष्ठ कथा को सुनकर ठीक हुआ है मेरा हाल।

(४६)

"तुझसे मेरी एक विनय है, जहाँ कहीं भी तू जावे—
नल की कथा सुनाना सबको, जिससे पावनता छावे।
इसका पढ़ने-लिखनेवाला, सुननेवाला भी हे मित्र!
पाप-कर्म करके भी होगा मेरे-जैसा महा पवित्र।"

(४७)

ऐसा सुनकर चला दूत वह सारी सेना को लेकर—
और निषध-नौका को मुद के मानसरोवर में खेकर।
पहुँच वहाँ कुछ दिवसों पीछे, उसने नल से हाल कहा—
जिसको सुनकर सबके मन में भरा मोद, आनंद महा।

(४८)

माँग बिदा ऋतुपर्ण भूप से, कर धावन को धनद-समान—
निज कुटुंब के साथ निषध को नैषध ने कर दिया प्रयाण।

चलते थे वे हर्ष-शक्ति को भरते हुए सैन्य के बीच—
करते हुए मार्ग में सारे आगे पानी, पीछे कीच।

(४६)

श्वेत अश्व पर नल लगते थे सेना में ऐसे सुंदर—
विष्णु केलि करते थे मानो दुग्ध-सिंधु-वीची ऊपर।
शिखी सीखने लगे नाचना उनके हय की सुगति विलोक—
और पुत्र* का देख पराक्रम सूर्य-सिंधु तजते थे शोक।

(५०)

दुग्ध-सिंधु से ही वह मानो अश्व हुआ था अति शोभन—
चलता था जो बड़े वेग से नल-घनवाहन†-वाहन बन।
शपथ एक थकने की खाकर और वात से करके बात—
रज-कण-गण घन उड़ा रहा था करने को वह दिन की रात।

(५१)

धूलि देखकर नभ में सबको होता था बस ऐसा ज्ञात—
काली-पीली घटा-छटा ले, मानो आई यह बरसात।
अथवा नष्ट-भ्रष्ट हो जावे तपनातप का अति आघात—
इससे मेघयान ने नभ में फैलाए थे मेघ बलात।

(५२)

नल आते हैं, यही वृत्त या बन रज-धूमयोनि सुंदर—
सौख्य-वृष्टि करने जाता था विरह-वितप्त निषध ऊपर।
हय-वर-खरतर-खुराघात से पृथ्वी अति पीड़ित होकर—
दौड़ रही थी अथवा नभ में छिप जाने को इधर-उधर।

---

* समुद्र में से उच्चैःश्रवा निकला था। अश्व सूर्य से भी उत्पन्न हुआ है। † इंद्र।

(५३)

इससे ही प्रताप नैषध का अद्वितीय कहलाता था—
जो अचला को चला व्योम में, नीचे सिंधु * बहाता था।
अंधकार का भार वहाँ पर उतर-उतर या आता था।
अथवा नल-प्रताप-पावक का धूम व्योम में छाता था।

(५४)

भेरी, शंख, दुंदुभी, इनका कहीं-कहीं रव होता था—
भीरु जनों के भीरु भाव को भूरि-भूरि जो खोता था।
अस्त्र-शस्त्र की कांति और वह अंधकार का भार अपार—
घोर-घोर घन-गर्जन-सम था उसे बनाता बारंबार।

(५५)

महासुंदरी-दरी†-नाथ बन देते थे जो छवि सुंदर—
और निरंतर जल बहता था जिनके झरनों से झर-झर—
ऐसे वनमय भूमिधरों पर नल की वह सेना चढ़कर—
कंपमान कर उन्हें उतरती भूमि-कंप करने भू पर।

(५६)

सारे सागर पीकर भी जो नहीं तृप्त कहला सकते—
वे भी घटज पानकर जिनका हैं सुतृप्ति को पा सकते—
ऐसे सरिता-सरोवरों का पीकर सब मृदु पावन पाथ—
हर्षित मन होकर चलते थे नल हय पर सेना के साथ।

(५७)

महा वाहिनी को पल-भर भी नहीं थकावट आती थी—
जैसे दिन जाता था, वैसे सुखी रात भी जाती थी।
क्यों न हर्ष का साथ वहाँ हो, जहाँ साथ हैं नल सुखकंद—
भर जाता है मिलकर जिनसे सुख के भी मन में आनंद।

---

* सेना = सिंधु। † गुफा।

(५८)

दमयंती भी बढ़ा रही थी करके कृपा सभी का मोद—
सैन्य सुखी थी वैसे, जैसे कन्या रहती मा की गोद।
किसी तरफ़ से, किसी तरह का, नहीं किसी को भी था शोक,
क्योंकि चिता में सोती चिंता नल-दमयंती-वदन विलोक।

(५९)

निषध-समीप वेग से वे सब जैसे-जैसे आते थे—
वैसे-वैसे वे अपने को महा मोद में पाते थे।
नर-नारी सब बड़े हर्ष से हो करके मग में एकत्र—
नल-भैमी का स्वागत करते प्रेम-भक्ति से थे सर्वत्र।

(६०)

हीरे, मोती, लाल, जवाहिर, हाथी, घोड़े, सैनिक-वर—
इनकी भेट उन्हें देते थे आश्रित राजा आ-आकर—
जिनके मुकुट मंजु मणियों का कठिन स्पर्श कर वारंवार—
हो जाते थे नल के पद-नख कुछ-कुछ मंजु मलिनताधार।

(६१)

देख जब हर्षित हुए जन - भक्ति को—
निज नगर में सुरभि* में नल पहुँचकर—
राम का - सा राज्य तब होने लगा—
प्राणियों का हो गया जो दुःख - हर।

---

* वसंत-ऋतु।

उन्नीसवाँ सर्ग

(१)

विभव-धाम, निष्काम, काम का सुखकर-सहचर—
　　विरही जन का वाम सुधाकर के सम बनकर—
वसुधा पर आ गया, छा गया वसुधाधर पर—
　　कर, वसुधारुह-कांति, * पुष्प-दल-वसुदा, सुंदर।

(२)

संत - समान - वसंत अंत कष्टों का करने—
　　आया जीवन-ज्योति नई जीवों में भरने।
ताल-तमाल-रसाल, देखकर 'कुसुम-काल' † को—
　　फूल-फूलकर तान रहे थे पुष्प-जाल को।

(३)

कलित- कोकनद - कुंद - कंद - किंशुक - इंदीवर—
　　कल-कदंब - कचनार - केवड़े फूल - फूलकर—
विरहिणियों के चारु-चित्त को जला रहे थे—
　　नयनों-बीच त्रिशूल मूल तक चला रहे थे।

(४)

थे मानो ये सभी पंचशर - खरतर - शर-वर—
　　या ये मधु के अस्त्र-शस्त्र थे महा भयंकर।

---

* वृक्षों की शोभा को, जो फूल और पत्ता-रूपी धन देनेवाली है, इस वसंत ने और भी मनोहर करके...। † वसंत।

लटक - लटक ये यहाँ बनेंगे विरही-असु-हर—
टाँके थे इसलिये इन्हें स्मर ने वृक्षों पर।

(५)

है यह काम-कृपाण, केतकी-कुसुम, कठिनतर—
जो होगी अति शीघ्र हमारे लिये प्राण-हर—
मन में ऐसा मान विरह - विधुरा नारीजन—
ग्रीवा नीचे, उसे लगा अब रखने क्षण-क्षण।

(६)

लाल कमल हैं भला दमकते जो अंगारे—
तो ये हमको जला हरेंगे प्राण हमारे—
यों विचारकर उन्हें फूँकते थे विरही नर—
गंधाकर्षित भृंग - वृंद को धूम मानकर।

(७)

जूही, बेला, बेल, चमेली, चंपा भी अब—
पाटल और पलास फूलने लगे भला सब।
देख-देख फिर इन्हें माधवी, सरसों फूली—
जिन पर करने लगे मधुव्रत झूला-झूली।

(८)

जिसका पति परदेश पड़ा है ऐसी नारी—
खोने को निज मनोव्यथा को मानो, सारी—
विरहानल से जले कलेजे के टुकड़े कर—
डाल चुकी थी फूल बना उनके गुलाब पर।

(९)

लख लवंग पर पुष्प कोकिला हर्षित होकर—
लगी बोलने बोल खोल करके पंचम स्वर।

पी-पीकर जल को न, किंतु 'पी-पी' कर चातक—
था बनने लग गया वियोगिनियों का घातक।

(१०)

नाच-नाचकर मोर शोर थे नहीं मचाते—
छतरी करके बार - बार थे वे हर्षाते।
कहते थे यह बात, प्रिया में प्रीति बढ़ाने—
निज पावनता, सत्य - स्नेह, सौंदर्य दिखाने—

(११)

"होते हम - जैसे न विहग जो सुंदर-पावन—
तो चतुरानन - सुता और शिव-पुत्र-षडानन—
भिक्षुक की-सी तरह स्वर्ग में पैदल फिरते—
घर * में सड़ते, या कि मार्ग में पड़ते-गिरते।

(१२)

"चढ़ते हैं श्रीकृष्ण - शीश पर पंख हमारे ;
इनसे लड़कर भूत, रोग भी सारे हारे।
इससे मानिनि ! मान छोड़कर कहना मानो—
नीलकंठ का कोप उग्र होता है जानो।"

(१३)

बुरे दिनों का फेर, दिनों का नष्ट हुआ अब—
पल-पल बढ़ने लगे हर्ष से वे सब-के-सब।
रवि उत्तर चल दिए, ग्रीष्म को निकट मानकर—
बड़े आदमी एक जगह रहते न निरंतर।

(१४)

मेरे स्वामी दिवस देर से अब आते हैं ;
वे अवश्य बस कहीं प्रेम में फँस जाते हैं।

---

* क्योंकि दोनो के हमीं वाहन हैं।

यों विचारकर लगी सूखने निशा - भामिनी ;
क्योंकि सपत्नी - प्रेम देख सकती न कामिनी ।

(१५)

पीले - पीले पत्र लता - तरुओं से पड़कर —
बोल रहे थे बार - बार ये करुण वचन-वर—
"वृक्षो ! कुछ भी शोक हमारा तुम मत करना —
लेता है जो जन्म, एक दिन उसको मरना ।

(१६)

"ईश्वर से हम यही विनय करते हैं सुंदर—
रहने दो प्रभु, पड़े हमें तो तरु - चरणों पर—
जिससे लें फिर हमें गोद में जनक हमारे—
और बने ये हरे - भरे सुख पाकर सारे ।"

(१७)

फल-दल-पुष्प-विहीन वृक्ष थे कहीं-कहीं पर ।
कहीं - कहीं थे मृदुल नवल-दल-युक्त पुष्पधर ।
कोई-कोई वृक्ष फूल - फल - दल से लदकर—
शीतल छाया और कांति देता था सुंदर ।

(१८)

हरी-हरी थी भरी मंजरी सब आमों पर—
जहाँ मधुप - पिक झूल रहे थे बैठ-बैठकर ।
चंदन में भी गंध बहुत बढ़ता जाता था ;
शीतल-मंद-सुगंध पवन सबको भाता था ।

(१९)

ऐसे जब ऋतुराज राज भू पर करता था,
जड़ - चेतन का हृदय हर्ष से जब भरता था,
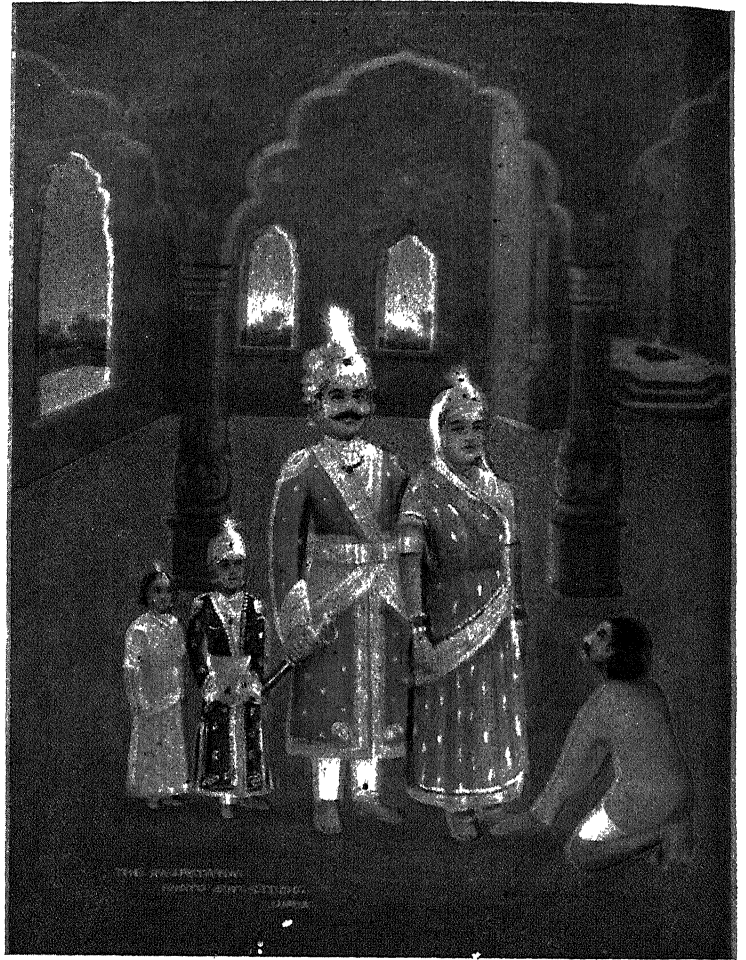
मिलन

उनको अपने निकट देख वह खड़ा हो गया ;
उसका सारा शोक सदा के लिये सो गया।
दोनो भैमी-चरण पकड़ वह गद्गद होकर—
ऐसे कहने लगा भाग्य पर अपने रोकर

तब सेना के साथ निषध में जा पहुँचे नल—
जिन्हें देखकर वदन हो गया सबका उज्ज्वल।

(२०)

क्योंकि स्वच्छता प्रेम-भक्ति से ही आती है;
क्रोध द्वेष से चली चित्त से वह जाती है।
रहती जैसे कांति शांति के साथ सर्वदा—
उसी तरह है साथ सुमति के सदा संपदा।

(२१)

जनता-स्वागत और भेट का स्वीकृत कर-कर—
पहुँचे नल फिर भव्य भूप-मंदिर के अंदर।
पुष्कर विधिवत जहाँ दिनों से तप करता था।
थे जो उसके पाप, उन्हीं को वह हरता था।

(२२)

उनको अपने निकट देख वह खड़ा हो गया;
उसका सारा शोक सदा के लिये सो गया।
दोनो * भैमी-चरण पकड़, वह गद्गद होकर—
ऐसे कहने लगा, भाग्य पर अपने रोकर—

(२३)

"माता! जीवन नहीं मुझे यह भाता मेरा;
भ्राता के अतिरिक्त अब नहीं त्राता मेरा।
जान-बूझकर तुम्हें कष्ट मैंने न दिया है;
द्वापर ने ही महा नीच यह कार्य किया है।

---

* जो छायावाद (रहस्यवाद) द्वितीय सर्ग के अंत से प्रारंभ हुआ है, वह यहाँ आकर संपूर्णरूपेण प्रकट हो गया। राजा नल ने यही दृश्य देखा था।

(२४)

"कलि का महा प्रभाव छा गया था तब मुझ पर—
सिद्ध हुआ जो आज सभी के लिये कष्ट-कर।
सुनने से ही कथा आपकी दूत-वदन से—
कलि का कपट-विकार हट गया मेरे मन से।

(२५)

"सच कहता हूँ या कि भला मैं बात बनाकर—
इसे जानते विष्णु, निशाकर और दिवाकर।
मेरे कारण कष्ट आपने कई उठाए;
द्वापर-कलि ने काम किंतु ये सब करवाए।

(२६)

"मैं हूँ पुत्र-समान, पिता हैं नैषध मेरे।
तुम माता हो, किंतु भाग्य ने थे दिन फेरे।
इससे सब अपराध आप अब क्षमा कीजिए—
मैं बालक हूँ कुटिल, शरण में मुझे लीजिए।"

(२७)

दमयंती, इस तरह मौन हो, खड़ी हुई थी—
मानो तनधर-शांति भूमि पर जड़ी हुई थी।
नल-नयनों में किंतु इस समय जल भर आया;
उनने उसको उठा प्रेम से कंठ लगाया।

(२८)

और कहा—"हे अनुज! शोक तू क्यों करता है?
मन में ऐसा भीरु-भाव अब क्यों भरता है?
भावी टलती नहीं, यही सुख को खोती है;
अनहोनी होती न, सदा होनी होती है।

(२९)

"नहीं किसी पर रोष, दोष है नहीं किसी का ;
पछताना तू छोड़ मिटा भ्रम अपने जी का ।
बात गई सो गई, किंतु रख रही-सही अब—
रोना-धोना बनी बात को खोना है सब ।

(३०)

"हम दोनो ने तुझे क्षमा दे दी है पुष्कर !
दया-प्रीति भी पूर्ण हमारी है अब तुझ पर ।
सब बातों को छोड़, प्रेमकर तू अब इनसे*—
अपना पावन वंश चलेगा आगे जिनसे ।"

(३१)

उसने फिर सस्नेह अंक में उनको लेकर—
सूँघा उनका शीश हर्ष से आशिष देकर—
और कहा—"अत्यंत मुझे आनंद मिला है ;
मेरा ऐसा नहीं कभी मन-सुमन खिला है ।

(३२)

"इंद्रसेन सुतरत्न, मुझे अब पूर्णकाम कर—
कल्पवृक्ष हो गया गमनशाली इस भू पर ।
चिंतामणि - सम श्रेष्ठ इंद्रसेना यह कन्या—
चिंता हरती सभी चित्त की होकर धन्या ।

(३३)

"पूज्य निषध-नरनाथ ! आपकी मंजुल महिमा—
बढ़ी-चढ़ी है तथा, यथा है मेरी लघिमा ।
इनका वर्णन कर न सकेगा कोई प्राणी—
थक जावेगी क्योंकि वहाँ पर वाणी-वाणी ।

---

* अपने पुत्र-पुत्री ।

(३४)

"मुझ-जैसे को आज आपने मुक्त किया है—
  और अभय-वरदान प्रेम से मुझे दिया है ।
मानव महा उदार आप-सा नहीं अन्य है ;
  स्वार्थी जग के बीच आपको धन्य-धन्य है ।

(३५)

"दमयंती के सदृश नहीं है साध्वी भू पर—
  जिसने कर ली प्राप्त कीर्ति है मुझे क्षमा कर ।
तुम दोनो का सदा रहूँगा मैं आभारी—
  क्रीत दास के सदृश और अति आज्ञाकारी ।

(३६)

"मेरी इच्छा आप शीघ्र अब पूर्ण कीजिए ;
  सिंहासन पर बैठ सभी को मोद दीजिए ।
प्रजा निषध की आप विना व्याकुल है वैसे—
  नीर-हीन पाठीन दीन हो जाती जैसे ।

(३७)

"लेकर सारा भार आप अब इस शासन का—
  प्रभो ! मिटाओ दुःख सभी इस जन के मन का ।
बैठा हूँ मैं यहाँ इसलिये माला जपने—
  राज-पाट को शीघ्र आप ले लेवें अपने ।"

(३८)

नल ने हँसकर कहा— "असंभव ऐसा करना—
  तेरे मन की और महा चिंता को हरना ।
शासन-हित मैं नहीं यहाँ आया हूँ पुष्कर !
  राज-पाट की चाह नहीं है मुझे बंधु-वर !

(३९)

"जिससे मैं संबंध सर्वथा तोड़ चुका हूँ—
वचन-मात्र से नहीं, हृदय से छोड़ चुका हूँ—
आज उसी को पुनः करूँ मैं स्वीकृत कैसे?
करने के क्या काम कहो होते हैं ऐसे?

(४०)

"भावी के भी भोग सभी कुछ भोग लिए हैं—
पुष्कर! मैंने महा कठिन भी काम किए हैं।
लूटा है आनंद हर्ष का मैंने मन-भर—
और कष्ट का कोप सहा है महा भयंकर।

(४१)

"वैभव का भी विभव हाथ से छीन लिया है—
मैंने मोद-विनोद * और फिर हरण किया है।
कई तरह के खेल यहाँ खेले हैं मैंने;
प्रिय-वियोग के दुःख सभी झेले हैं मैंने।

(४२)

"मुझे इसलिये चाह नहीं है राज-पाट की—
धन-दौलत की और नाम की, ठाट-बाट की।
मुझको इच्छा यही एक है अब हे पुष्कर!
पाऊँ मैं निर्वाण प्रिया के साथ शीघ्रतर।

(४३)

"जीवन-बिंदु-समान क्योंकि है चंचल जीवन;
बढ़ता है जो नहीं, किंतु घटता है क्षण-क्षण।
है इसका उपयोग यही कहलाता सुख-कर—
इसे प्राप्त करना न दूसरी बार यहाँ पर।

---

* अर्थात् दोनो का ही अत्यंत अनुभव किया है।

(४४)

"इसे त्यागना या कि सर्वथा खोना इसका—
एक-मात्र यह लक्ष्य चाहिए होना इसका * ।
हमें इसे भगवान इसलिये देता पुष्कर !
होने इससे मुक्त करें हम यत्न निरंतर ।

(४५)

"रहूँ † सदा मैं स्वस्थ, बढ़ाकर लोहित-लाली,
हो जाऊँ विद्वान, यशस्वी, वैभवशाली ।
जीतूँ सारे देश नष्टकर शत्रुजनों को—
सिंहासन पर बैठ बढ़ाऊँ मित्रगणों को ।

(४६)

"ऋद्धि - सिद्धि - संपत्ति - लोक की मेरे आवें,
मुझे त्रिलोकीनाथ त्रिलोकी - नाथ बनावें—
करती जीवन - नाश कामनाएँ हैं ऐसी;
इनके रहते हुए मुक्ति हो सकती कैसी ?

(४७)

"इसका नाम-निशान क्यों न मैं आज मिटा दूँ,
है यह मेरा शत्रु, इसे मैं मार गिरा दूँ ।
बंदी इसको करूँ, शाप दूँ इसको ऐसा—
नहीं किसी ने कहीं दिया हो अब तक जैसा ।

(४८)

"खा जाऊँगा इसे, पीस ही मैं डालूँगा,
करके इसका चूर्ण प्रतिज्ञा मैं पालूँगा—

---

* हमारे जीवन का यही लक्ष्य हो कि यह (जीवन) फिर दुबारा हमें न मिले ।

† यहाँ से मनुष्य के षड्रिपुओं (काम, क्रोधादि) का वर्णन है ।

यों कहता है मनुज कोप में जब भर जाता;
कर पाता कुछ नहीं, स्वयं पर वह मर जाता।

(४९)

"अपने धन को मूढ़! दान में क्यों खोता है,
दीन-पालना से न लोक में कुछ होता है,
निधि पर निधि मैं भरूँ और फिर उन्हें छिपाऊँ,
भू को खोदूँ या कि कंदराओं में जाऊँ,

(५०)

"मेरे भूषण - रत्न रहेंगे पास सर्वदा,
यों ही मेरी बनी रहेगी सदा संपदा,
मन-मोदक-आस्वाद लोभ से जो यों लेता—
है वह अपनी नाव यहीं पर रहता खेता। ❀

(५१)

"है मेरी यह मोद - दायिनी काया - माया,
है छाया के सदृश गामिनी मेरी जाया,
ये मेरी संतान, पिता - माता ये मेरे,
ये सुखदाता मित्र और ये भ्राता मेरे,

(५२)

"है यह मेरी एक रम्य रत्नों की ढेरी,
यह मेरा घर-बार और यह वसुधा मेरी—
बढ़ जाती है बहुत इस तरह जिसकी ममता—
परब्रह्म में चित्त नहीं है उसका रमता।

(५३)

"मुझ-जैसा गुणवान, नहीं विद्वान कहीं पर—
ज्ञानवान, यशवान और बलवान कहीं पर,

❀ वह वहीं वारंवार जन्म लेता रहता है और भव-सागर से पार नहीं होता।

क्या है मेरे सदृश, काम भी महा मनोहर,
क्यों मैं करूँ प्रणाम किसी को ईश्वर * होकर,

(५४)

"किसी बात में—किसी काम में—कोई नर-वर—
हो सकता मेरे न कभी भी कहीं बराबर,
ऐसा महा घमंड, दुष्ट - पाखंडाडंबर—
देता है बस गिरा सभी को खंड - खंडकर।

(५५)

"इसमें ऐसी शक्ति हाय ! क्यों भरी हुई है,
क्यों इसके धन-राशि पास में धरी हुई है,
इसको ऐसा रूप दिया है क्यों ब्रह्मा ने,
क्यों की ऐसी कृपा इसी पर श्रेष्ठ गिरा ने,

(५६)

"है यह कैसा सुखी, धनी - मानी है कैसा,
करता तू भगवान क्यों नहीं मुझको ऐसा—
इस प्रकार की जलन मनुज को दुखी बनाकर—
कर देती है भस्म, सुमति को जला-जलाकर।

(५७)

"इससे रहना अलग चाहिए इन बातों से—
इस माया की—काल-चक्र की—इन घातों से।
लेकर जल में जन्म, नहीं जल को छोड़ेगा,
किंतु नहीं संबंध, जलज जल से जोड़ेगा।

(५८)

"रहना इसी प्रकार चाहिए सदा यहाँ पर—
जिससे हमको स्थान उच्चतम मिले वहाँ पर।

---

* धन-दौलतवाला।

स्वर्गारोहण ठीक नहीं, यदि ज्ञान - रहित है ;
भूमि-वास है महा श्रेष्ठ यदि ज्ञान-सहित हैं।

(५६)

"धुल सकता जो नहीं क्षार जल के पाने से—
होता जो बदरंग नहीं है धुल जाने से—
फीका जिसके विना सदा है रंग अंग का—
है अब मुझ पर रंग चढ़ गया उसी रंग * का।

(६०)

"नहीं उतरना, किंतु जानता है जो चढ़ना—
सिर पर चढ़ आता न जिसे है नीचे पड़ना—
ऐसा मद है आज कर लिया मैंने मन-भर—
जिसका अब न उतार कभी आ सकता पुष्कर!

(६१)

"शाखा-फल-दल-फूल, व्यर्थ है इन्हें पकड़ना—
करो मूल का ग्रहण, वश्य जो सबको करना।
है यह वृक्ष विचित्र, मूल है जिसका ऊपर—
हैं नीचे की ओर, और शाखादिक † सुंदर।

(६२)

"विषय-नदी-मुख नहीं घटेगा, बढ़ जावेगा—
उसको करना बंद निरर्थक कहलावेगा।
है वह बिलकुल शुष्क नहीं हो सकता तब तक—
आदि-स्रोत है खुला रहेगा उसका तब तक।

---

* राग, प्रेम अर्थात् ईश्वरोपासना। † श्रीगीता में जिसका वर्णन है

(६३)

"है माया का त्याग बड़ा ही होता दुष्कर—
इस बंधन से कठिन निकल जाना है पुष्कर !
है बस कुछ भी नहीं यहाँ पर लेना-देना—
यों विचार कर, मुझे नाव है अपनी खेना ।

(६४)

"वंश-वृद्धि के हेतु अंक में सुत को लेकर—
और हर्ष से उसे राजगद्दी में देकर—
तुझको मुख्यामात्य बंधुवर ! कर देता हूँ,
चौथा आश्रम जान, राह वन की लेता हूँ ।"

(६५)

"यही बात है ठीक," कहा यों दमयंती ने ;
कहती थी वह वही कहा जो उसके जी ने ।
जी ने ही क्या, यही कहा था आत्मा ने भी—
थी जो बढ़-चढ़ गई उस समय नल की से भी ।

(६६)

लगे वर्षने फूल व्योम से सुरभित, सुंदर—
फिर जय-जय का शब्द सुनाई दिया वहाँ पर,
क्योंकि इंद्र-यम-अग्नि - वरुण ये चारो निर्जर—
थे हर्षित हो रहे वचन नैषध के सुनकर ।

(६७)

कहा उन्होंने [illegible] यान को नीचे लाकर—
"नल ! धन्या है भूमि, भूमिपति तुझ-सा पाकर ।
हे मानी ! राजर्षि ! बड़ा ही है तू ज्ञानी—
प्राणी तू आदर्श और है निराभिमानी ।

(६८)

"तेरा यह निस्स्वार्थ-भाव, यह त्याग, अनुत्तम—
है कहलाने-योग्य सर्वथा अद्भुत-अनुपम।
तूने हे मनुजेंद्र! प्राप्तकर जन्म यहाँ पर—
मर्त्य-लोक को बना दिया है दिव से बढ़कर।

(६९)

"है तेरे अनुकूल सती-वर भीम-कुमारी—
धन्या-धन्या जिसे कह रही धरणी सारी।
जिसकी स्वामी-भक्ति, अलौकिक शक्ति देखकर—
हम निर्जर ही नहीं, चकित हैं चारु-चक्रधर*।

(७०)

"राज-पाट को छोड़, मनुज-साधारण होकर—
तूने जो-जो काम किए हैं कठिन-मनोहर—
हो सकता हमसे न कभी भी उनका वर्णन—
हैं वे अद्भुत और देव-मुनि-मन-आकर्षण।

(७१)

"कर सकते हम नहीं योग्य-सम्मान तुम्हारा†;
न्यून तुम्हारे लिये आज वरदान हमारा।
तो भी हे नर-नाथ! यही तुम कहना मानो—
हैं सुर भी असमर्थ‡ बात यह मन में जानो।

(७२)

"खुला हुआ है द्वार स्वर्ग का लिये तुम्हारे;
अगवानी को खड़े हुए हैं निर्जर सारे।
तुम्हें सुनाने गान, हो रही व्याकुल भारी—
गंधर्वों के साथ अप्सराएँ हैं सारी।

---

* महाविष्णु। † तुम दोनों का। ‡ तुम्हारा सर्वथा उचित सम्मान करने में।

(७३)

"तुम दोनो इसलिये सुरों के बन मन-भावन—
दिव में चलो सदेह उसे करने को पावन ।
व्योमयान यह खड़ा तुम्हारे लिये यहाँ पर ;
लेने आए तुम्हें आज हम चारो निर्जर ।"

(७४)

नल बोले—"हे सुरो ! आज मैं बन आभारी—
मानूँगा आदेश आपका यह हितकारी ।
संतत इसी प्रकार बड़ाई तुम देते हो—
निज भक्तों को और अंक में भी लेते हो ।

(७५)

"होकर महा अयोग्य, स्वर्ग में चलने लायक—
हो सकता हूँ कभी नहीं मैं, हे दिवनायक !
हो तुम दया-निधान, कृपा कर इससे मुझ पर—
दिया मुझे सम्मान और यह पद श्रेयस्कर ।

(७६)

"है तन-मन-धन-प्राण सभी तुम पर न्यौछावर ;
है यह शुभ आदेश आपका सिर-आँखों पर—
पर मेरी तुम पूर्ण करो इच्छाएँ सारी—
यही चाहता प्रथम दास यह आज्ञाकारी ।

(७७)

"अद्वितीय जो देश स्वर्ग से होकर बढ़कर—
पावन भारतवर्ष आज कहलाता भू पर ।
बना रहे वह सदा - सर्वदा शोभा - शाला—
धर्म - धान्य - धन - धाम और निष्काम, निराला ।

(७८)

"शिष्य हुए सब देश इसी से शिक्षा पावें—
और इसी का दिया हुआ अन्नोदक खावें।
हो इसके आधीन राज सब भूमंडल का ;
मिले किसी को भी न पार कुछ इसके बल का।

(७९)

"नव-निधियाँ भी और सिद्धियाँ आठो आकर—
रहें घनों के सदृश सर्वदा इस पर छाकर।
शौर्य-धैर्य-उत्साह साथ में इनको लेकर—
पड़ा रहे आनंद इसी पर धरना देकर।

(८०)

"महाकठिन-से-कठिन काम के करनेवाले,
मातृभूमि के कष्ट शांति से हरनेवाले,
उसके हित के लिये हर्ष से मरनेवाले,
भूरि-भूरि भांडार-भूति से भरनेवाले,

(८१)

"अरि-शिर पर अपकीर्ति-भार को धरनेवाले,
नहीं युद्ध में कभी काल से डरनेवाले,
ज्ञान-दान के लिये स्रोत-सम झरनेवाले,
सब देशों के महा मान को चरनेवाले—

(८२)

"ऐसे मानव-सिंह, यहाँ पर पैदा होवें—
जो स्वतंत्रता को न कभी भी अपनी खोवें।
साध एकता-मंत्र नाव को पार लगावें ;
कर शुभ गति को प्राप्त, नहीं फिर पीछे आवें।

(८३)

"सती, सुंदरी और अलौकिक विदुषी होकर—
पाकर पति से मान और फिर सुयश-मनोहर—
फूलें - फलें सदैव, स्त्रियाँ आदर्श यहाँ पर—
हों जिनसे उत्पन्न पुष्टतम ऐसे शिशु-वर—

(८४)

"स्वावलंब का पाठ गर्भ में जो पढ़ते हैं,
स्वाभिमान के उच्च शिखर पर जो चढ़ते हैं,
* पीछे जो दिन-रात कलाओं के पड़ते हैं,
पाने को स्वातंत्र्य शत्रु से जो लड़ते हैं,

(८५)

"जिनको अपना देश प्राण-सम होवे प्यारा,
लेवें उन्नति-हेतु किसी का जो न सहारा,
ज्ञान-प्राप्ति की लगन लगी हो जिनके मन में,
रक्खें हरि को याद, सदा जो घर में, वन में।

(८६)

"हे दिक्पालो! सुरो! देर अब कुछ न लगाओ;
पूर्ण-मनोरथ मुझे शीघ्रतम आप बनाओ।
भारत रहे सदैव धनी-मानी-विज्ञानी—
यही वचन दो मुझे आप होकर वरदानी।"

(८७)

कहकर वाक्य "तथास्तु" पास उनको † बैठाकर—
नभ-पथ से चल दिए स्वर्ग को चारो निर्जर।

---

* खूब शौक़ रखना, सीखना। † नल और दमयंती को।

उदाहरण ऐसा न मिलेगा देश-प्रेम का—
करनेवाला और सभी के लिये क्षेम का।
बढ़े वचन-अनुसार ही भारत की जन-संपदा—
सौख्य-शांति-संपत्ति भी और रहें इसमें सदा।